पुराना दीया : नई रोशनी

सुरेन्द्रकुमार ~~मल्होत्रा~~

भूमिका
बालस्वरूप 'राही'

मल्होत्रा ब्रादर्स
१, फैज बाजार, दिल्ली

प्रकाशक
मल्होत्रा ब्रादर्स,
१, फैज बाजार, दिल्ली।

प्रथम आवृत्ति अक्टूबर, १९५८ ई०

मूल्य साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
सुपर प्रेस, पहाड़गंज,
नई दिल्ली।

पिताजी और चाचाजी

को

सादर

सुरेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

आलोचक के गुणों की व्याख्या करते हुए एक विदेशी विचारक ने लिखा है कि आलोचना एक व्यवसाय की भाँति है, जिसमें वैदग्ध्य की अपेक्षा स्वास्थ्य, सामर्थ्य की अपेक्षा परिश्रम और प्रतिभा से अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्य से मैं इन तीनों शक्तियों से वंचित हूँ। इसलिए जब मेरे परम मित्र और नई पीढ़ी के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार श्री सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा ने मुझसे अपने पहले कहानी-संग्रह की भूमिका लिखने की बात चलाई तो मैं काफी घबड़ा गया। केवल यही नहीं कि मुझमें इस बात की घबड़ाहट थी कि यह काम मेरे लिए नया तथा मेरे स्वभाव के विपरीत था, बल्कि यह भी कि मैं सुरेन्द्र को इतने निकट से जानता हूँ कि उनकी रचनाओं के प्रति सर्वथा तटस्थ हो पाना मुझे संभव नहीं लगा। उनके कृतित्व से मेरा परिचय उतना ही प्रगाढ़ और पुराना है, जितना स्वयं अपनी कविता से। उनकी कहानियों को मैंने जन्म लेने, पनपते और बढ़ते देखा है। मैंने उन्हें सराहा है, या उन पर नुक्ताचीनी की है—ज्यादातर शायद नुक्ताचीनी ही की है। मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि उनकी कथा-कृतियों का प्राय मैं ही पहला पाठक—अधिकतर श्रोता—रहा हूँ। हम दोनों ने एकाध साल के वक्फे से तकरीबन साथ लिखना शुरू किया। प्रतिस्पर्धा तो हुई किन्तु ईर्ष्या इसलिए अधिक नहीं हुई क्योंकि हम लोगों के लेखन-क्षेत्र विभिन्न थे—

उनकी गद्य के प्रति अनुरक्ति थी, मेरी काव्य में अगाध रुचि। कंधे से कंधा मिलाकर हम बढे, विरोधी शक्तियों से लडे, और एक दूसरे के विकास के प्रति पूरे सहयोग और उत्साह का प्रदर्शन किया। घटो हम लोगो ने साहित्य के मूल्यों को लेकर लडाई की है, साथ-साथ भविष्य के स्वप्न देखे हैं, एक दूसरे की सभावनाओ को इसलिए अतिरंजित करके आपस मे रखा, ताकि किसी प्रकार उपेक्षित होकर भी साहित्य-सृजन मे जुटे रहें। समय के जिस पथ से हम गुजरे वह शायद हमे यहाँ तक न पहुँचाता, अगर हम हमसफर न होते।

नए लेखक के सम्मुख सामान्यत जितनी कठिनाइयाँ रहती हैं, उनसे कुछ अधिक ही हमारे सामने थी, क्योंकि एक तो हम जरूरत से ज्यादा महत्त्वाकाक्षी रहे हैं, दूसरे हमारा लेखन-क्षेत्र राजधानी रहा है, जहाँ की भव्यता ही नही, प्रतियोगिता, वैमनस्य और व्यावसायिक ईर्ष्याएँ भी महान हैं। फिर पूरे साहित्य-क्षेत्र मे हमारा कोई सगा-सम्बन्धी, मित्र या हितैषी नहीं था, सौभाग्य हमारा कि विरोधी काफी थे। फिर भी हम जैसे तैसे थोडा बहुत आगे बढ़ने के लिए जूझते रहे, क्योंकि काफी शुरू से ही हमने अपने लेखन को गम्भीरतापूर्वक लेना शुरू कर दिया, और उसे अपने अस्तित्व की अनिवार्यता बना लिया। शौकिया आज तक हमने एक पक्ति भी नही लिखी। यश प्रार्थी के रूप मे ही हम दोनो का लेखन प्रारम्भ हुआ, क्योंकि आर्थिक स्थिति सौभाग्य से हम दोनो की ही बुरी नही थी।

हिन्दी के साहित्यकारो का वर्गीकरण कुछ ऐसे किया जा सकता है। एक तो वे, जो घर से निकाल दिए जाने के कारण पीडित होकर लिखना शुरू कर देते हैं। दूसरे वे, जो अन्य किसी भी कार्य की अनुपस्थिति—जैसे नौकरी न मिलना आदि—के कारण साहित्य-सृजन प्रारम्भ कर देते हैं। तीसरा वर्ग असफल व्यक्तियो का है, इनमे प्रमुखत किसी कक्षा मे या प्रेम-प्रसग मे बार-बार असफल होते वाले व्यक्ति आते हैं। उनकी कुण्ठा ही—असमर्थता मैं कैसे कह सकता हूँ—उनके साहित्य की मूल प्रेरणा होती है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से सुरेन्द्र इन तीनो वर्गों मे से किसी मे नही आते। उन्होने मात्र इसलिए लिखना शुरू किया कि गलत या सही उनके मन मे यह वहम जम गया था कि वह महान बनने के लिए पैदा हुए हैं, और महानता प्राप्ति के अन्य साधनो के अभाव में उन्होने लेखन को चुना। उन्होने केवल लिखने के लिए लिखा। पाठक वह खूब रहे हैं। मुझे याद है, सेंट स्टीफेंस मे बी ए मे हम जब साथ पढ़ा करते थे, तो पुस्तकालय के रजिस्टर मे सबसे ज्यादा पुस्तकें उन्हीं के नाम चढ़ी होती थीं। वहाँ की लायब्रेरी मे जितना कथा-साहित्य था, दो-

तीन वर्ष मे ही उन्होंने वह पूरा पढ डाला था। मैं अक्सर उन्हे छेड़ा करता था कि तुम पुस्तक को शायद पढते नही, भाँपते हो, इसीलिए इतनी जल्दी समाप्त कर लाते हो। किन्तु जब मैं किसी कृति पर उनसे चर्चा करता था, तो मुझे लगता था कि उनके निष्कर्षों मे काफ़ी वज़न है।

मेहनती और कर्मठ वह मुझसे कही ज्यादा रहे हैं। मैंने कहीं सुना है कि अध्यवसाय और प्रतिभा के सम्मिश्रण से जीनियस बनता है। श्रम सामर्थ्य उनमे निश्चित रूप मे विद्यमान है, मेरी आस्था के अनुसार प्रतिभा भी उनमे है ही, अत उनके आजकल भविष्य मे मेरा दृढ विश्वास होना स्वाभाविक ही है।

१९५२ की बात है। मैंने सेंट स्टीफेंस कॉलिज मे प्रवेश किया ही था। एक दिन वहा की असेम्बली मे मैंने एक कविता पढी। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक मुझे बधाई दी। फिर झिझकते-झिझकते मुझे बताया कि उन्हें भी कुछ लिखने का शौक है। फिर मेरी आत्मसीमित रहने की प्रवृत्ति के बावजूद उन्होने मुझे अपने मे दिलचस्पी लेने के लिए मजबूर कर दिया। मुझे लगा' कि वह अन्य सहपाठियों से कुछ भिन्न हैं। उनके व्यक्तित्व मे एक प्रकार की ऐसी प्रखरता और तीक्ष्णता है जो सामान्य व्यक्तियो मे नही होती। मैंने महसूस किया कि इस व्यक्ति मे लगन है, जीवन है, सघर्ष करने की शक्ति है। मुझमे उन गुणो का अभाव था, इसलिए मुझे उनकी वह उग्रता, वह आग, वह आवेश भले लगे। पर मुझे दुख है कि जीवन के व्यग्य ने उनका हृदय भी गहरे मे बीधा, और स्थिति यहाँ तक पहुँची कि वह एक उदास, खोए-खोए से, टूटे-टूटे स व्यक्ति रह गए हैं। यार-दोस्तो मे बैठकर कहकहे वह अब भी लगाते हैं, किन्तु मन का उल्लास उनमे समाप्त-प्राय हो गया है, यह मैं खूब जानता हूँ।

हाँ तो, उन्होंने पहली कहानी जो मुझे सुनाई, उसका विषय शायद एक साम्यवादी का व्यग्यात्मक चित्रण था। कहानी मुझे अच्छी लगी, किन्तु मैंने कहा कि मुझे बहुत अच्छी नही लगी, ताकि वह उसे और माँजें। उनकी पहली कहानी शायद सरिता मे छपी, सन् ५४ मे 'समस्या का हल'। उस कहानी को पढकर विष्णु प्रभाकर जी ने कहा था, "आपकी शैली बहुत प्रौढ और परिमार्जित है, मैं तो यह समझा था कि आपकी उमर काफी होगी।"

कहानी-प्रकाशन के प्रति उन्होंने प्रारम्भ से ही ज्यादा सावधानी नहीं बरती। कुछ सकोच रहा होगा, पर अधिकाश सद्भाव। यह समझने मे उन्हें काफ़ी समय लग गया कि उनकी कहानी छापे बगैर भी हिन्दी के पत्र बदस्तूर निकलते रहेंगे, और कि प्रकाशन की एकमात्र कसौटी प्रतिभा नही है। सम्पादकों के प्रति सद्भाव बनाए रखने की उनकी इस ज़िद ने उन्हें काफी

नुक्सान पहुँचाया। रचना प्रकाशित कराने के लिए रचना की श्रेष्ठता के अतिरिक्त और किसी साधन का आश्रय न ग्रहण करने की ज़िद पर वे अभी तक अड़े हुए हैं। अन्यथा उन्हें आज जितने लोग जानते हैं, उससे कहीं अधिक जानते होते। इसके बावजूद, महज चन्द कहानियों के बूते पर जो लोकप्रियता इस बाईस-वर्षीय कहानीकार को इतने थोड़े समय में मिली है, वह बहुत से तरुण लेखकों के लिए ईर्ष्या का कारण हो सकती है।

सुरेंद्रकुमार मल्होत्रा के व्यक्तित्व की सवप्रमुख विशिष्टता जो मुझे लगी, वह है अतिरिक्त सतर्कता। अपने हर काम में वह इतनी सावधानी बरतते हैं, कि कभी-कभी तो मुझे काफ़ी कोफ्त होने लगती है। उनकी इस स्वभावगत विशेषता ने उनके साहित्य को भी बेहद प्रभावित किया है। इसीलिए वह इतना कम लिख पाए, क्योंकि एक कहानी लिखने में उन्हें काफ़ी समय लग जाता है। उनके कहानी लिखने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है। फर्ज़ कीजिए, बस में किसी से उनकी या किसी से किसी की लड़ाई हो गई। पहले तो वह उसमें काफ़ी जोशखरोश से हिस्सा लेंगे, इंशाअल्लाह दूसरे को चुप कराकर ही चुप होंगे। पर फिर एकदम जैसे अपने में ही खो जाएँगे। अचानक गहन-गम्भीर मुद्रा बनाकर मुझसे पूछेंगे, "तुम्हारा क्या ख़याल है, कहानी लिखी जाए इस पर ?"

मैं आश्चर्य से पूछता हूँ, 'कहानी तो जरूर लिखी जाय, पर किस पर ?"

उत्तर मिलता है, "अरे, इसी नामाकूल पर !"

फिर वे बस में चढ़ने वाले साहबों का वर्गीकरण करते हुए अपने आइडिया की रूप-रेखा बताएँगे। फिर पूछेंगे, "तुम्हारा क्या ख्याल है, है वर्थ-अटेम्पटिंग ?" मुझे पसन्द आती है तो कह देता हूँ निश्चित रूप से, साथ ही यह भी जोड़ देता हूँ कि निर्वाह सुन्दर होना चाहिए, अन्यथा अपील नहीं करेगा।

दो चार रोज़ बाद मिलेंगे, तो फिर पूछेंगे, "कुछ सोचा तुमने उस आइडिए पर, वर्थ-अटेंम्प्टिंग है ना ?" इस प्रकार पहले वह एक-दो हफ्ते, और कभी-कभी तो महीनों आइडिए को इस लिहाज़ से अपने दिमाग़ में तोलते रहते हैं कि उस पर श्रेष्ठ कहानी लिखी जा सकती है या नहीं। अगर काफ़ी समय बाद भी वह उतना ही आकर्षित करे और यह निश्चय हो जाए कि वह मौलिक तथा असाधारण है, तभी उस पर लेखनी उठाते हैं, अन्यथा और किसी आइडिए की तलाश शुरू कर देते हैं।

कहानी लिखने से पूर्व वह उसकी रूपरेखा लगभग स्पष्ट कर लेते हैं

कि उसमे कौन-कौन-सी घटनाएँ रहेंगी, कौन-कौन से चरित्र और किस प्रकार का अन्त। प्रारम्भ और अन्त पर वह काफी ज़ोर देते हैं। रूपरेखा बनाने मे जितना अधिक समय उन्हें लगता है, कहानी लिखने मे उतना ही कम। पर लिखने के बाद उसे माँजने मे फिर उतना ही समय लगाते हैं, और उसे इतनी अधिक बार पढ़ते हैं कि पूरी कहानी उन्हें ज़बानी याद हो जाती है। आप यकीन नहीं करेंगे, दिल्ली यूनिवर्सिटी की एक गोष्ठी मे उन्होंने अपनी एक कहानी ज़बानी बिल्कुल वैसे ही सुनाई थी, जैसे वह छपी थी। इतनी मेहनत के बाद रचना मे निखार आ जाना लाज़मी है।

जिस युग मे हम रह रहे हैं, उसका सर्वाधिक प्रखर जीवन-दर्शन समाजवाद है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरे युग-जीवन को उसने प्रभावित किया है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी परोक्षरूप मे समाजवाद से ही प्रभावित है। समाजवादी मान्यताएँ समाज मे प्रतिष्ठापित किए जाने के कारण व्यक्ति और समाज का संघर्ष बढ़ा, और व्यक्ति ने अपने झूठे अहं को बचाए रखने के लिए कछुए की भाँति अपनी पीठ मे मुँह छिपा लिया, प्रयोगवादी कविता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। व्यक्तित्व का यह बिखराव भी एक प्रकार से समाजवाद की ही प्रतिक्रिया है। सुरेन्द्रकुमार भी इस समाजवादी प्रवृत्ति से प्रभावित लगते हैं। अपनी प्रतीकात्मक कहानी 'सूर्य का जन्म' मे नए इन्सान का जन्म खेत मे बनी एक टूटी-फूटी झोपड़ी मे ही उन्होंने कराया है, जो इस ओर इंगित करता है कि क्रान्ति निम्नवर्ग से ही प्रारम्भ होगी।

आज के सम्पूर्ण साहित्य की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। एक तो असाधारण से साधारणता की ओर जाने की क्रिया दूसरी व्यंग्यात्मकता। दोनों की पृष्ठभूमि मे आज की विषम सामाजिक व्यवस्था है। इसी के विरोध मे साधारण को गौरवान्वित किया जा रहा है और वर्तमान सभ्यता के मिथ्याडंबर और खोखलेपन पर व्यंग्य बाण साधे जा रहे हैं। सुरेन्द्र की कहानियों मे भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ पूरी तरह निखर कर सामने आती हैं। एक हल्की-सी व्यंग्यात्मकता—जो विषयानुकूल पर्याप्त प्रखर भी हो जाती है—उनकी रचनाओं को एक दिलचस्प चाशनी दे देती है। उनके कथाशिल्प मे तथाकथित मौलिकता चाहे उतनी न हो, पर ताज़गी बहुत है। मज़ाक-मज़ाक मे वह काफी बड़ी बात कह जाते हैं। उनकी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ—'मन के मोड़', 'मोह के बंधन', 'हाँ, वह मेरा दुश्मन है,' 'अपनी-अपनी बात' आदि— पढ़ने मे यह सहज ही प्रकट हो जाता है, कि उन्होंने जीवन का बड़ी गहराई और सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया है। उनके संवेदनशील व्यक्तित्व मे हल्के-से-हल्के आघात के

प्रति तीव्र प्रतिक्रिया होती है, और उसे वह बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त कर जाते हैं। उनकी व्यग्यात्मक कहानियाँ—'अपना-पराया', 'देवता, आदमी और सिक्के'—तथाकथित सभ्रात चेहरो से कृत्रिम आवरण उतारने मे पूर्णत सफल है। 'दिल डूब-सा रहा है' एक हल्की-फुल्की रचना है—व्यग्य-विनोद से परिपूर्ण, पर काफी निर्मम है। 'कैप्टन साहब' रेखाचित्र को प्रकाशित होते ही जो लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, वह इस बात की साक्षी है कि वह अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है। 'पुराना दीया नई रोशनी', 'प्यार के देवता, जागो', 'सूर्य का जन्म' कहानियो की लाक्षणिकता उनकी कहानियो मे प्रयुक्त प्रयोगात्मकता की ओर इगित करती है, और उन्हें एक गूढ़ अभिप्राय से सयुक्त कर देती है।

सुरेन्द्र आज के युग को यौन कुंठा से ग्रस्त मानते हैं, प्रगतिशीलता एव सभ्यता की सज्ञा देकर कामुकता का जो नग्न प्रदर्शन हो रहा है, उस पर उन्होने इस सग्रह की अनेक कहानियों—'सूर्य का जन्म', 'प्यार के देवता, जागो', 'परतो के आर-पार' आदि मे निर्मम व्यग्य किए हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं है, किन्तु वह अति-भौतिकवाद पर आश्रित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और तथाकथित सभ्यता एव प्रगति से अत्यत असतुष्ट हैं। उनका यह असतोष उनकी अनेक कहानियो मे अभिव्यक्त हुआ है।

प्रस्तुत भूमिका मे मैने केवल व्याख्यात्मक और परिचयात्मक बने रहने का प्रयास किया है, आलोचना का मैदान दूसरो के लिए छोड दिया है, क्योंकि स्टील की इस उक्ति से मैं नितात असहमत नही हूँ कि आलोचक मर्त्य प्राणियो मे मूढ़तम होता है।

८/७ माडल टाउन,
दिल्ली।

बालस्वरूप 'राही'

'पुराना दीया : नई रोशनी' : एक परिसंवाद

रमेश—(दरवाज़े पर दस्तक देकर) सुशील जी, हो क्या ?

सुशील—अरे, आओ भई रमेश, ख़ूब आए ! कहो, कैसे आना हुआ ?

"महज़ तफ़रीहन ! मार्क्स की किताब पढ़ते-पढ़ते बोर हो गया तो सोचा, तुम्हीं से कुछ गप शप कर आऊँ। कम्बख़्त आलोचना का काम भी अजीब सिरदर्द है। पहले दुनियाँ-भर से सूत्र इकट्ठे कीजिए, फिर उन्हें हिन्दी की कृतियों पर घटाइए, और फिर भी मौलिक कृतिकार की दृष्टि में मूर्ख बनिए! तुम सुनाओ, क्या बन रहा है ?"

"अरे, कुछ नहीं यार ! एक कहानी की नई पुस्तक से मग़ज़ मार रहा था। आजकल तो कहानी संग्रहों की बाढ़-सी आ गई है। कथा-साहित्य न हुआ, कोसी नदी हो गई, जाने सरकार इस पर भी कोई बाँध-वाँध लगाने की योजना क्यों नहीं बनाती ? नौकरी नहीं मिली तो कहानीकार बन गए, किसी लड़की ने डाँट दिया तो कहानी लिखने लगे। इधर यह कोई सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा निकले हैं, बहती गंगा देखी तो इन्होंने सोचा तुम भी हाथ धो लो। मैं तो नए लेखकों को पढ़ना कतई पसन्द नहीं करता। वक्त ही कहाँ है अपने

पास कि इन नौसिखियों मे दिमाग खपाया जाय। क्यो न उसी वक्त मे क्लासिकी साहित्य का अध्ययन किया जाए उसमे कम-से-कम मोती तो हाथ लगते है। लेकिन हिन्दी-कथा-साहित्य (विशेष रूप मे नई पीढी की कहानियों) मे काई के सिवा कुछ भी नही। इस सग्रह को ही लो— कोई और नाम नही सूझा तो एक कहानी के शीर्षक पर ही नाम रख दिया 'पुराना दीया नई रोशनी'।"

"नाम तो बुरा नही है, यार ! और अगर यह कहानी इस सग्रह की सबसे अच्छी कहानी हो, तो यह नाम रख देने मे एतराज़ क्या है ?"

"रोना तो यही है, प्यारे—कहानी अच्छी तो है, पर इतनी नही कि सग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी का लेबिल इस पर लगाया जा सके। इसमें अच्छी कहानी तो 'कुहासा और किरण' ही है जिसका नाम बदलकर 'सूर्य का जन्म' इन हजरत ने इस कारण रख दिया कि कहीं लोग यह न कहने लगें कि सत्येन्द्र शरत् पहले ही रख चुके हैं। इसके अतिरिक्त, 'देवता, आदमी और सिक्के' ही क्या बुरा था ? नाम भी अच्छा है और कहानी भी जानदार है।"

'लेकिन महेन्द्रनाथ की पुस्तक का शीर्षक भी तो 'आदमी और सिक्के' है। हिन्दी के आलोचक कहते देवता जोड़कर किसी खुरापाती ने महेन्द्रनाथ की पुस्तक का शीर्षक चुरा लिया !"

"तो 'हां, वह मेरा दुश्मन है * क्या बुरा रहता ? वह इस सग्रह की शायद दो तीन सबसे अच्छी कहानियों मे से है।'

"कुछ जमता नही यार ! कहानी के शीर्षक के रूप मे तो ठीक है, पर सग्रह के नाम के रूप मे नही फबता। सबसे पहले तो तुम्ही मुँह बिचकाते, "उँह, यह भी कोई शीर्षक है—न आकर्षण, न ओज। अरे साहब, सबसे अच्छा शीर्षक तो वह है जिसका कहानी के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो !"—है न ? और भई, आजकल शीर्षकों का अकाल भी तो पड गया है। शब्द कोष मे तो कोई ऐसा सुन्दर और अभिव्यजनात्मक शब्द रहा नही, जिस पर किसी-न-किसी साहित्यकार ने अपना लेबिल न लगा लिया हो, आखिर मुरब्बत मन्हाया भी क्या करता ! 'पुराना दीया नई रोशनी' नाम तो चमत्कारपूर्ण है ही, जम गया होगा उसे, रख दिया। और कहानी भी, तुम कहते हो, बुरी नहीं है। अब यह क्या ज़िद है कि सग्रह की सबसे अच्छी कहानी पर ही पुस्तक का रखा जाय !"

"शीर्षक रखने की बात छोड़िए, यार सग्रह मे ही क्या रखा है ? प्रयोग का युग है यह, किन्तु यह हजरत हैं कि प्रयोग से अधिक कथ्य पर ज़ोर

*'यह कहानी और 'अपनी-अपनी बात' तथा 'हां, वह मेरा दुश्मन है' सरिता से साभार।

देते हैं। अब 'सूर्य का जन्म' तथा 'प्यार के देवता, जागो' को ही लो, अच्छी-खासी प्रयोगात्मक कहानियाँ हैं, लेकिन कथ्य को अधिक महत्त्व प्रदान करने की वही हठधर्मी—आदमी यह जरा सनकी लगता है। भला तुम्हीं बताओ, अगर शिल्प पर अतिरिक्त ज़ोर न दिया जाए, तो कैसे प्रमाणित हो कि हिंदी-कथा-साहित्य प्रेमचन्द से आगे बढ़ा है !"

"हाँ, तुम ठीक कहते हो ! प्रयोग और चमत्कार को ही एक-मात्र उद्देश्य न मानकर अभिव्यक्ति में सादगी और सहजता को महत्त्व प्रदान करना सचमुच बहुत बड़ी मूर्खता है सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा की—क्यों, है न ?"

"केवल यही नहीं, यह महोदय इतनी अस्थिर प्रकृति के व्यक्ति हैं कि लगता है, अपना कोई जीवन-दर्शन है ही नहीं इनका। एक अजीब तमाशा है—किसी कहानी में तो ऐसा लगता है कि जैसे ज़िंदगी दम तोड़ रही है, मानवीय मूल्यों का जैसे कोई महत्त्व ही नहीं रहा और इंसान के भाग्य पर अंधकार की इतनी गहरी परतें जम गई हैं कि जिससे उभरने का जितना ही प्रयत्न वह करता है, उसका दम घुटने लगता है। लेकिन लेकिन एक अन्य कहानी का नायक इस गहन कुहासे को चीरकर नई मानवता के लिए प्रकाश-स्तम्भ बन जाता है। कहीं तो यह महाशय प्रगतिशील कहानीकार के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, तो कहीं पारिवारिक कहानीकार के रूप में। आखिर क्या मज़ाक है, कौन समझाए इन्हें कि प्रगतिशील और पारिवारिक कहानी का एक-दूसरे से उतना ही विरोध है जितना ३ और ६ का। खैर हमें क्या, पछताएँगे बाद में। होगा यह कि न यह महोदय इधर के रहेंगे और न उधर के ! बिना किसी गुट में दीक्षा लिए, प्रचार तो मिलने से रहा।"

"लेकिन, मेरे दोस्त, कहानी मूलतः एक मूड-विशेष की प्रतिकृति होती है। किसी एक कहानी में लेखक ज़िंदगी से ऊबकर उदासीनता की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है, लेकिन अन्य कहानी में वह सारे समाज को चुनौती भी दे सकता है। और फिर ज़िंदगी एकरूपता, एकरसता का ही तो प्रतिबिम्ब नहीं है। हाँ, यह ज़रूर है कि किसी वाद-विशेष का चोगा पहनकर सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में चल पड़ी है, उसका लाभ न उठाकर सुरेन्द्र मल्होत्रा ने न केवल मूर्खता का परिचय दिया है, वरन् यह भी सिद्ध किया है कि साहित्यकारों की आधुनिकतम प्रवृत्तियों का उसे कतई ज्ञान नहीं। इसके लिए वह सहानुभूति का पात्र है ना ?"

सुशील—(अपनी ही धुन में) लगता है यह महाशय आज के युग को संकट-जनित कुंठा का युग मानते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह

अपनी कुँठा, अपनी घुटन को समग्र समाज में फैलाकर उसे विषाक्त कर दे !"

रमेश—(व्यंग से) तुम सच कहते हो, इसान की कमजोरियों पर व्यंग्य करने का जो साहस सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा ने किया है, उसमें बड़ी मूर्खता की बात क्या हो सकती है ? लोग अपने दोष छुपाने के लिए नये दोष अपनाते हुए भी नहीं झिझकते, पर यह हजरत है कि समाज की कमजोरियों पर कुठाराघात करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं। और हाँ भई, तुमने व्यक्ति और समाज के बीच एक व्यावर्तक रेखा खींचकर व्यक्ति को समाज का अंग मानने से इकार करने का जो प्रयत्न किया है, उससे यह जरूर प्रमाणित हो जाता है कि स्वनामधन्य महान आलोचकों की पंक्ति में बैठने के अब तुम भी अधिकारी हो गए हो !"

"देखो रमेश, ज्यादा चालाक बनने की कोशिश मत करो। समाधान प्रस्तुत न करके समाज के नासूरों को उद्घाटित करके जो मौन हो जाए, उस साहित्यकार पर लानत भेजता हूँ मैं !"

"बेशक ! लम्बी-लम्बी स्पीचों के इस युग में समाजसुधारक या उपदेशक बनने का मोह जिसे न हो, उससे बेईमान, गैर-जिम्मेदार साहित्यकार कौन हो सकता है ? और सीधे प्रचार को कहानी का सबसे बड़ा दोष सिद्ध करने का जो प्रयत्न देश-विदेश के अनेक मान्य कहानीकारों ने किया है, वह उपहासास्पद नहीं है क्या ? मुझे खुशी है, तुम अपने आलोचक होने का उत्तरदायित्व बड़ी ईमानदारी और विद्वता के साथ निभा रहे हो !"

सुशील—(झुँझलाकर) पर तुम पुस्तक पढ़े बिना ही सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा का इतना पक्ष क्यों ले रहे हो ?"

"पुस्तक ध्यान से पढ़े बिना बुराई करने से पढ़े बिना ही उसकी प्रशंसा करना क्या ज्यादा अच्छा नहीं है ? वसे यार, बहस रही दिलचस्प ! पर ताज्जुब है, तुम इसे खरीद कैसे लाए, खरीद कर पुस्तक पढ़ना तो आज के आलोचक के उसूल के खिलाफ़ की बात है !"

"अरे, यार, खरीदी कहाँ, समालोचना के लिए आई थी, इसलिए पढ़ ली।'

"यानी लेखक पर अहसान किया ! अच्छा भई, अपन चले। मार्क्स साहब याद कर रहे होंगे, तनिक महमान मैं भी उन पर कर आऊँ। गुडबाई !"

"गुडबाई ! पर यार, एक कप चाय तो पीते जाओ।"

१, फैजबाजार,
दिल्ली।

श्रोता
सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा

अनुक्रम

१

पुराना दीया : नई रोशनी

रात आठ बजे तक वीरेन्द्र घर नहीं आया, तो मोहनलाल ने जमीन पर पाँव पटककर दाँत पीसते हुए कहा, "शरम-हया तो छू तक नहीं गई आजकल के लड़कों को। चाहे कितना समझाओ बुझाओ, डाँटो-डपटो, पर किसी बात का असर ही नहीं होता। सारे शहर की धूल फाँकने के बाद जनाब घर ऐसे आते हैं जैसे बेताज के बादशाह ही तो हैं!"

निर्मला चुप रही। कहती भी तो क्या, वह तो मनौती मना रही थी—हे ईश्वर, आज का दिन किसी तरह कुशल से बीत जाय!

पत्नी को चुप देखकर मोहनलाल का पारा और चढ़ा, "और बातें ऐसे करते हैं जैसे नई दुनियाँ का निर्माण ये ही तो करेंगे। अरे, काम होते हैं हिम्मत से, साधना से, न कि चौबीस घंटे आवारागर्दी करते हुए हवाई किले बनाने से। ज़िन्दगी को तो जैसे खेल समझ रखा है!"

बाहर का दरवाजा खटखटाए जाने की आवाज सुनाई दी, तो मोहनलाल फिर बड़बड़ाए, "आए होंगे शहज़ादे कहीं से टहलते टहलते। घर को तो जैसे सराय समझ रखा है!"

निर्मला ने उठकर दरवाजा खोला तो देखा, सुरेश था। बोला, "वीरेन्द्र नहीं है, मौसी?"

सहमी आँखों से पति की ओर देखकर निर्मला ने सिर हिलाया, "अभी तो आया नहीं।"

जल्दी से सीढ़ियाँ उतरते हुए सुरेश बोला, "आए तो फौरन मेरे घर भेज देना, मौसी! कहना, ड्रॉमे का पास है मेरे पास। शो साढ़े आठ बजे से है। ज़रूर कह देना, मौसी! ऐसे ड्रॉमे रोज़-रोज़ थोड़े ही होते हैं।"

सुरेश चला गया तो होठ चबाते हुए मोहनलाल बोले, "सारे दिन आवारागर्दी करने और हुल्लड़ मचाने के सिवा कोई काम ही नहीं है इन लोगों को। जेब मे हाथ डालकर सिगरेट का धुआँ ऐसे उड़ाते हैं, जैसे ज़िन्दगी की कोई गंभीर समस्या सुलझा रहे हो। अरे, हम भी तो कभी जवान थे, हमारे भी दिल

था, उमगें थीं, अरमान थे ! पर यह नई पीढ़ी—ईश्वर ही रक्षा करे इस देश की !"

निर्मला ने बात टालने के लिए दबी जबान से कहा, "समय पाकर स्वयं ही समझ जायगा। अभी उमर ही क्या है बेचारे की। हँसने-खेलने के ये ही तो दिन होते हैं।"

मोहनलाल गरजकर बोले, "मैं कहता हूँ, जिस बात की तुम्हें समझ न हो, उसमें टाँग मत अड़ाया करो। बीस-बाईस साल का जवान भी बच्चा ही रहेगा ? मेरा क्या है, कल तुम्हीं रोओगी सिर पर हाथ रखकर !"

निर्मला चुप रही तो झल्लाकर मोहनलाल दूसरे कमरे में चले गए। सोचते-सोचते उनके सिर में दर्द-सा होने लगा—आखिर क्या करें वह वीरेन्द्र का ? पर सवाल केवल वीरेन्द्र का थोड़े ही है—अशिष्टता, आवारगी और खोखलापन तो इस सारी-की-सारी नई पीढ़ी की रग-रग में व्याप्त है।

पिछले दो वर्ष में मोहनलाल वीरेन्द्र में एक अजीब-सा परिवर्तन देख रहे थे—एक अजीब किस्म की लापरवाही, खोयापन, उदासी ! बुलाओ तो उत्तर दे दिया, वरना गुमसुम अपने कमरे में बैठकर छत की कड़ियाँ गिनते रहे। एक दिन मोहनलाल ने प्यार से पूछा था, "क्या बात है, बेटे ?"

"जी, पिताजी !"

"यह क्या होता जा रहा है तुम्हें ? खोए-खोए उदास-उदास-से रहते हो, जैसे बोलना ही भूल गए हो !"

पर वीरेन्द्र होठों पर एक विवश मुस्कान लाकर प्रतिरोध करता रहा था, 'आपको तो यों ही लग रहा है, पिताजी, भला कोई बात भी हो !"

झुंझलाकर आखिर मोहनलाल ने पूछना तक बंद कर दिया था। जाने कैसी आई है यह नई पीढ़ी—दिल में जैसे धड़कन ही न हो, जिन्दगी मानो इनके लिए एक बहुत बड़ा बोझ हो।

बाहर दरवाजा खुलने के साथ ही वीरेन्द्र के एक जोर के कहकहे की आवाज आई, तो मोहनलाल की विचारधारा टूट गई। उठकर देखा, अपने मित्रों से विदा लेते हुए वीरेन्द्र चिल्ला रहा था, "अच्छा, नई, फिर मिलेंगे। चीरियो !"

मोहनलाल को फिर क्रोध आ गया। यार-दोस्तों में सारे दिन ठहाका लगाता रहता है, पर घर ऐसे आता है जैसे साँप सूँघ गया हो !

वीरेन्द्र की आवाज फिर सुनाई दी, "नहीं, माँ, बिलकुल भूख नहीं है।'

निर्मला का दबा स्वर सुनाई दिया, "तुझे कभी भूख लगी भी है ?"

"अब तुम्ही बताओ, माँ, मैं क्या करूँ ? यार-दोस्त मिल जाते हैं तो. ।"

मोहनलाल से और नहीं सुना गया। कठोर स्वर में बोले, "वीरेन्द्र !"

वीरेन्द्र का खून सूख गया। अपराधी-सा सामने आ खड़ा हुआ।

"कितने बजे हैं ?" मोहनलाल ने पूछा।

पिता के सामने वीरेन्द्र की घिग्घी बँध जाती थी। हकलाते हुए बोला, "एक दोस्त मिल गया था, पिताजी !"

"आज फिर सिनेमा देखकर आए हो ?"

झूठ बोलने का वीरेन्द्र में साहस नहीं हुआ, "पिताजी ।"

"मैं कहता हूँ, तुममें कभी संजीदगी आएगी या नहीं ? सस्ते, अश्लील फिल्म देखते हुए शरम नहीं आती तुम्हें ?"

वीरेन्द्र सिर झुकाए सुनता रहा। मोहनलाल कहते रहे, "सारे दिन दाँत निकालने, वक्त और पैसा बरबाद करने के सिवा और भी कोई काम है तुम लोगों को ? आखिर इन्सान की कुछ जिम्मेदारियाँ होती हैं। तीन दिन से बहन बीमार है, पर रायसाहब को उससे दो बात करने की भी फुरसत नहीं।"

बोलते-बोलते मोहनलाल थक गए तो आखिरी बार चिल्लाए, "रेस्तोराँ का स्वाद जिसके मुँह लग जाय, उसे घर का खाना क्यों अच्छा लगेगा ! पर कान खोलकर सुन लो, ये नखरे यहाँ नहीं चलेंगे। चलो, खाना खाओ सीधी तरह !"

वीरेन्द्र अनमने मन से रसोई में आकर माँ से बोला, "खाना परोस दो, माँ !"

सुबह हुई तो मोहनलाल को पश्चात्ताप-सा होने लगा— बेचारे को कितना डाँट दिया कल, क्या कहता होगा मन में ! पर फिर दिल को तसल्ली दी—अरे, हमारा तो खून सूखता था बाप का मुँह देखकर, पर आजकल के ये लड़के ।

चाय मेज पर रख दी गई तो मोहनलाल ने आवाज दी, वीरेन्द्र !"

निर्मला हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई, "मैं बुला लाती हूँ। रात तबीयत ठीक नहीं थी उसकी, शायद सो रहा हो।"

"अजी, नहीं। दस-दस बजे सोकर उठना तो आजकल के लड़कों का

फैशन है। तबीयत ठीक नही रहती मगर, तो सुबह सैर करने जाया करे। पर आलस और सुस्ती पीछा छोडें, तब न।" मोहनलाल भूल गए कि अपनी युवावस्था मे अगर उन्हें कभी सुबह सैर को जाना पडता था तो ऐसा लगता था उन्हें, जैसे फाँसी चढने जा रहे हो।

मोहनलाल दफ्तर जाने लगे तो देखा, वीरेन्द्र अपने कमरे मे बैठा कुछ लिख रहा था, शायद कोई कहानी हो। इन दिनो वीरेन्द्र मे एक प्रसिद्ध कहानीकार बनने की धुन समाई हुई थी। जब देखो खोया-खोया-सा जाने क्या सोचता रहता।

जाते-जाते मोहनलाल एक बार फिर बडबडाए, "चाहे कितना ही समझाओ, सुनता ही नही यह। एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है। सिवा समय नष्ट करने के ।"

शाम को मोहनलाल घर आए तो सुना वीरेन्द्र चीख रहा था, "मैं पूछता हूँ, मेरी चीजो को हाथ क्यो लगाए कोई ? सुबह ही वह किताब मेज पर रख गया था और अब गायब है। कोई चीज रहती भी है इस घर मे ?"

निर्मला ने उसे मनाते हुए कहा, "मिल जायगी, बेटा, जायगी कहाँ और फिर तुम भी तो सँभालकर नही रखते।"

"मैं कुछ नही जानता ।" सहसा पिता पर नजर पडी तो वीरेन्द्र सिटपिटाकर चुप हो गया।

मोहनलाल ने व्यग्य से कहा, "कहे जाओ, बेटे ! इस तरह चिल्लाओगे नही, तो पता कैसा चलेगा कि जनाब घर आ गए हैं। चिल्ला-चिल्लाकर आसमान सिर पर उठाना ही तो आज के युवको का सबसे बडा गुण है ! कुल का नाम खूब रोशन करोगे तुम !"

खाना खाते समय वीरेन्द्र की आवाज फिर सुनाई दी, "खाना किससे खाऊँ—सुबह-शाम वही सब्जी !"

मोहनलाल चुप सुनते रहे—आखिर कोई कब तक कहे ! हर चीज की नुक्ताचीनी करना तो कोई आजकल के लडको से सीखे। रोब इस तरह डालते हैं जैसे कोई किला फतह करके आये हो !

मोहनलाल रोज देखते और झल्लाते, पर कोई उनकी सुने तब न ! आजकल के लडके तो अपने को जैसे खुदा समझते हैं !

एक दिन मोहनलाल घर आए तो बेहद खुश थे। अन्दर कदम रखते

ही बोले, "ज़रा इधर तो आना, वीरेन्द्र की माँ !"

निर्मला आई तो वह बोले, "सेठ श्यामलाल अपनी बेटी के लिए जोर दे रहे हैं। भला इससे अच्छा खानदान कहाँ मिलेगा ! लड़की साँवली जरूर है, पर गुणों की भी तो कोई कीमत होती है आखिर। मैंने तो कह दिया कि लड़का आपका ही है।"

वीरेन्द्र अपने कमरे मे बैठा सब सुन रहा था, बोला, "ज़रा बात तो सुनना, माँ !"

निर्मला वीरेन्द्र के पास से वापस आई तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। मोहनलाल ने व्यग्र होकर पूछा, "क्यों, क्या बात है ?"

बड़ी कोशिश करके निर्मला बोली, 'वीरेन्द्र को यह रिश्ता मंजूर नहीं है।"

मोहनलाल पर जैसे आसमान टूट पड़ा हो, "क्या कहा तुमने ?"

पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेदते हुए निर्मला बोली, "वह कहता है, शादी करेगा तो किरण से ही वरना ।"

मोहनलाल का चेहरा तमतमा गया। चिल्ला कर बोले, "वीरेन्द्र !"

वीरेन्द्र ठिठकता हुआ बाहर आया। विनम्र किन्तु दृढ़ स्वर मे बोला, "पिताजी, मैं यहाँ शादी नहीं करूँगा।"

मोहनलाल सकपका गए। इस तरह जवाब देने की हिम्मत वीरेन्द्र ने आज पहली बार की थी। गरजकर बोले, "क्या बकता है ?"

वीरेन्द्र चुपचाप खड़ा रहा, मानो उसका निर्णय अटल हो।

मोहनलाल क्रोध से पागल हो गये, "इस तरह ज़बान चलाते शरम नहीं आती तुम्हें ?"

पर वीरेन्द्र फिर विनम्र स्वर मे बोला, "शादी मुझे करनी है, पिताजी, मेरी सारी ज़िन्दगी का सवाल है। मैं फैसला कर चुका हूँ।"

निर्मला ने समझाने की कोशिश की, "सुन तो, बेटा ।"

पर मोहनलाल ने बीच मे ही आँखें लाल करके कहा, "बड़ा आया फ़ैसला करने वाला ! तो अब समझा जनाब सारे दिन गायब क्यों रहते थे। हट जाओ मेरी आँखों के सामने से—नालायक !"

वीरेन्द्र अपने कमरे में वापस चला गया तो निर्मला रोकर बोली, "तुम्ही मान जाओ। किरण का खानदान भी छोटा थोड़े ही है।"

मोहनलाल ने कहा, "तुम चुप रहो जी! मैं वचन दे चुका हूँ। आखिर खानदान की इज्जत भी तो कोई चीज होनी है। कल का लौंडा.. मुहब्बत करने चला है! जाने किस हवा मे पलते हैं ये लोग!"

निर्मला के दिल की धड़कन जैसे बंद हो गई। अब क्या होगा? दोनों जिद्दी हैं। सहसा दरवाजे पर किसी को खड़े देखकर वह चौंकी। उठकर देखा तो मोहनलाल का बचपन का मित्र रमरा था। चकित-सी बोली, "आप!"

आवाज सुनकर मोहनलाल पास आए। "अरे रमरा, तुम?" और दोनो मित्र एक दूसरे से लिपट गए। "भई, वाह! अजीब आदमी हो तुम भी, ऐसे गायब हुए कि पता ही नही चला! एक जमाने के बाद मिले हो आज, आओ ऊपर चलें। आराम से बैठकर बातें करेंगे।"

ऊपर पहुँचकर मोहनलाल को गौर से देखते हुए रमरा बोला, "अरे, तुम्हें हो क्या गया है, मोहन? क्या बुझा-बुझा-सा चेहरा है!.. याद हैं वे दिन?"

मोहनलाल के चेहरे पर एक चमक-सी आई, पर दूसरे ही क्षरा विलीन हो गई। निराशा से हाथ हिलाते हुए बोले, "भई, वह जमाना ही और था!"

रमरा ने मुस्कराकर कहा, "तुम कैसे भूलोगे उन दिनों को! जिधर से निकल जाते थे लड़कियाँ देखती रह जाती थीं। हम सब तो तुम्हें अपना प्रतिद्वंद्वी समझते थे!"

मोहनलाल के दिल मे गुदगुदी-सी होने लगी। अतीत के चित्र उनकी आँखों के सामने नाच गए—वे भी क्या दिन थे!

रमरा कहता जा रहा था, "और वह सरिता! हाय, दोस्त, तुमने भी गहरा हाथ मारा था!"

रमरा ने जैसे पुराने घाव को फिर से कुरेद दिया, मोहनलाल के दिल मे दर्द-सा होने लगा। उन्हें वे दिन याद आए जब वह और सरिता मिला करते थे—इस निर्मम संसार की दृष्टि से दूर, एक अलग दुनिया बसाने के खयालों मे खोए हुए! लेकिन आज. उन्होंने एक ठंडी साँस ली। आज वह सरिता को देखने तक को तरस गए हैं। इतने वर्षों के वियोग के बावजूद वह भूल नहीं पाए उसे। उफ़, जिन्दगी कितना बड़ा मजाक है!

उनके दिल मे एक हूक-सी उठी। अगर पिताजी उन्हें घर से निकालने की धमकी न देते तो आज इस घर की स्वामिनी निर्मला नहीं, सरिता होती। उनके दिल मे एक तूफान-सा उठने लगा। रुँधे कंठ से बोले, "अब तो उन दिनो की याद करके दिल मे दर्द-सा होने लगता है। वे ठहाके, वे कहकहे—क्या दिन थे वे भी ! न कोई फिक्र, न चिंता। अपने विगत जीवन पर नज़र डालता हूँ, तो ऐसा लगता है जैसे किसी दूसरे की कहानी दोहरा रहा हूँ।"

दो क्षण दोनो अतीत में खोए चुप रहे। फिर सहसा रमण ठहाका लगाकर हँस पड़ा, "याद है जब मास्टर रोशनलाल की मेज़ मे मेढक रखने के अपराध मे सारी क्लास ने बेंत खाए थे ?"

वह दृश्य मोहनलाल की आँखो के सामने घूम गया। वह खिलखिलाकर बोले, "पर हम दोनो तो बच गए थे, खिड़की की राह बाहर जो भाग गए थे !"

रमण हँसते हुए बोला, "भई, वे भी क्या मस्ती के दिन थे—प्रोफेसर साहब लैक्चर देते रहते और हम हाज़री बोलकर या तो बाहर खिसक जाते, या पिछले डेस्कों पर बैठकर मूँगफली खाते रहते।"

मोहनलाल ने कहा, "पर, यार, रोज़ डाँट पड़ती थी घर पर। पिताजी मेरी शरारतो से तंग आ गए थे। एक दिन झल्लाकर बोले, 'सारे दिन आवारागर्दी करने और हुल्लड़ मचाने के अलावा भी कोई काम है तुम लोगो को ?"

रमण बोला, "घर वालों के सो जाने पर रात को पिछले दरवाज़े से खिसककर हम नौटकी देखने जाया करते थे। भई, चम्पा का भी नाचने मे मुकाबला नही था। क्या नज़ाकत पाई थी उसने, क्या उभार था उसके यौवन मे !"

मोहनलाल फिर अतीत मे खो गए। मुहल्ले के सब लोग उनसे परेशान थे। एक-दूसरे के कान भरकर, परस्पर लड़ाई कराकर तमाशा देखना मोहनलाल के बाएँ हाथ का खेल था। यही नहीं, कोई भी लड़का ऐसा न था जिसे मोहनलाल ने पीटा न हो। मोहनलाल के पिता रोज़ झल्लाते, पर वह तो डाँट खाने के आदी हो गए थे। चुप सुनते रहते।

अचानक आकाश मे उड़ती दो पतगों मे से एक कटकर मोहनलाल की

छत पर गिर गई। रमण ने लपककर उसे उठा लिया। बोला, "चलो, यार, पतंग उड़ाएँ।"

मोहनलाल मुस्कराए, "वे दिन गए, दोस्त, भूल जाओ उन्हें!"

रमण ने विवशता की साँस ली। उफ़, जिन्दगी कितनी बदल गई है! हर रोज़ मार खाने पर भी सारे दिन छत पर चढ़कर पतंग उड़ाना अब तो महज़ सपना लगता है। बोला, "जवानी का तकाज़ा था—हँस-बोल लिए, अब तो ज़िन्दगी की समस्याएँ ही दम नहीं लेने देती!"

मोहनलाल के दिल में फिर दर्द-सा होने लगा—काश कि वे दिन लौट सकते! एक अजीब-सी लापरवाही थी तबीअत में, एक अजीब-सा खोयापन! हँसने लगे तो हँसते ही रहे, और चुप हुए तो घण्टों गुमसुम, उदास बैठे शून्य में देखते रहे।

दोनों मित्र हसरत-भरी निगाहों से अतीत में झाँकने की कोशिश करते रहे। एक बार खोकर इन्सान आँखों में एक अजीब-सी प्यास लिए देखने और हाथ मलने के सिवा कुछ नहीं कर सकता।

आखिर रमण चलने लगा तो मोहनलाल ने ज़ोर से उसका हाथ दबाते हुए कहा, "कभी-कभी मिलते रहा करो, यार!" दिल भर आने के कारण शेष शब्द गले में ही अटक गए।

रमण के जाने के बाद भारी मन से मोहनलाल चारपाई पर लेट गए। उफ़, कितनी आकांक्षाएँ थीं उनकी! बचपन से ही इंजीनियर बनने के स्वप्न देखा करते थे वह, पर पिताजी उन्हें अपने व्यापार में ही लगाना चाहते थे। मोहनलाल का दिल होंठों तक आ गया। काश, उन्होंने पिताजी की इच्छा के सामने इस तरह घुटने न टेके होते! विवश-भावों का एक ज्वार-सा उठा कि मोहनलाल से लेटा नहीं गया।

वह अपने भाग्य को कोसते रहे। सहसा वह चौंक पड़े। हाँ, वह भी तो वीरेन्द्र को ठीक उसी तरह, उन्हीं बातों के लिए डाँटा करते हैं, जिनके लिए उन्हें स्वयं अपने पिता से डाँट खानी पड़ती थी। वीरेन्द्र और उसके दोस्त मोहनलाल और रमण के ही तो प्रतिरूप हैं—वही उदासी, वही खोयापन, लापरवाही, ग़ैर-ज़िम्मेदारी, आवारगी, विद्रोह, जोश! तो तो दुनियाँ बदली नहीं है क्या? मानव की मूल भावनाएँ वे ही हैं? नई और पुरानी पीढ़ी में कोई अन्तर नहीं हुआ? ज़िन्दगी क्या उसी ढर्रे पर चल रही है?

ज्यों ज्यों मोहनलाल दिमाग पर ज़ोर डालने की कोशिश करते, वे धुंधले चित्र उभरने गए। हां, इन्सान बदला नही था। मोहनलाल चाहते तो वीरेन्द्र के रूप मे अपने विस्मृत-रूप के दर्शन कर लेते। उन्हें लगा जैसे उनके अन्दर एक क्रांतिकारी परिवर्तन होता जा रहा है।

सोचते-सोचते जाने कब उनकी आंख लग गई। एक घण्टे बाद वह उठे तो नीचे गए। वातावरण मे वही तनाव, वही घुटन थी।

निर्मला ने रुंधे कंठ से कहा, "तुम्ही मान जाओ। मैं तो समझाते-समझाते हार गई उसे। आखिर तुम्हें इस सम्बन्ध को स्वीकार करने मे आपत्ति क्या है?"

मोहनलाल ने अपना दिल टटोला। अपना अतीत एक बार फिर-याद आया तो उनका दिल पिघलने लगा। हां, आखिर उनकी आपत्ति का आधार क्या है? उन्होंने कोने मे खडे बेटे की ओर देखा। वेदना की रेखाएँ उसके चेहरे पर खुद-सी गई थीं। ऐसा लगता था, जैसे उसके मन मे तूफ़ान सा उठ रहा हो, जैसे उसकी ज़िन्दगी और मौत का सवाल हो। सरिता की याद ने उनके मन को एक बार फिर झकझोर दिया। पुत्र के लिए उनके मन मे प्यार का सागर-सा उमड आया। बोले, "वीरेन्द्र!"

वीरेन्द्र ने बिना आगे सुने एक बार फिर कहा, "मैं फ़ैसला कर चुका हूँ, पिताजी!"

उसके स्वर मे जो निश्चयात्मकता थी, उसने मोहनलाल को स्तम्भित कर दिया—वीरेन्द्र कमज़ोर नही था, उनकी तरह डरपोक नहीं था, परिस्थितियों के सामने घुटने नही टेक सकता था।

निमला ने मिन्नत करते हुए वीरेन्द्र से कहा, "तुझे हो क्या गया है?"

वीरेन्द्र ने झल्लाकर कहा, "मैं कह चुका हूँ, मां, मैं शादी करूँगा तो किरण से ही!"

मोहनलाल ने अधिकारपूर्ण स्वर मे कहा, "तमीज़ से बोलो!"

वीरेन्द्र के चेहरे पर विद्रोह और भी उभर आया। बोला, "मैंने अशिष्टता की कोई बात नही की, पिताजी!"

मोहनलाल क्रोध से पागल हो गए। आज तक वीरेन्द्र उनके सामने इस तरह बोलने का साहस नहीं कर सका था। वह गरजकर बोले, "चुप रह, बदतमीज़! इस घर मे रहना है तो मेरे कहे मुताबिक चलना पडेगा।"

वीरेन्द्र धीरे से विनम्र किन्तु दृढ स्वर मे बोला, "ठीक है, पिताजी, मैं आज ही चला जाऊँगा। दुनियाँ आपके घर तक ही सीमित नही है। हम नये लोग कहीं-न-कहीं अपने लिए जगह बना ही लेंगे।"

मोहनलाल बेटे की ओर देखने रह गए। आज वह विद्रोह करने पर तुल गया था। कोई रोक नही सकता था उसे। नये मे पुराने की अपेक्षा अधिक बल था, अधिक दृढता थी, वह झुक नही सकता था, टूट भले ही जाय। उनका जी हुआ कि बेटे को छाती से लगा लें। उनका बेटा बडी-बडी डींगें ही नही मारा करता था, बल्कि पर दूसरे ही क्षण वह काँप गए। परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि मोहनलाल समझौता नही कर सकते थे। अपने शब्दो को वापस कैसे ले लें वह? आखिर उनके भी तो मान का प्रश्न था! कैसे झुक जाएँ वह? उन्होने वीरेन्द्र को समझाने की कोशिश की, "दुनियाँ तुमने अभी देखी नही है, बेटे।"

पर वीरेन्द्र तो आज कसम खाकर आया था। उत्तर मे वह केवल मुस्कराया। मोहनलाल को लगा कि जैसे वह उनका उपहास कर रहा हो। चिल्लाकर बोले, "जाओ, जाते क्यो नही? चाहे जहन्नुम मे जाओ—मेरी बला से।"

निर्मला सिसकती रही। वीरेन्द्र कुछ क्षण चुप रहा। मानसिक यातना उसके चेहरे पर उभर आई। आखिर बडी कोशिश करके वह बोला, "मेरा कहा सुना माफ कीजिएगा, पिताजी।"

उसने दरवाज़े की ओर पैर बढाए तो निर्मला उससे लिपट गई। "तुझे क्या हो गया है, मेरे लाल?"

वीरेन्द्र की आँखें डबडबा आईं, पर अपने को ज़बरदस्ती माँ की बाँहों से छुडाते हुए वह बोला, "अपने को सँभालो, माँ।"

निर्मला ने पति को झकझोरते हुए कहा, "तुम्हीं मान जाओ।"

आन्तरिक वेदना को सह न सकने के कारण मोहनलाल ने होंठ भींच लिए। बेटे की ओर उनके हाथ एक बार बढे, पर फिर गिर गए। उफ, अपने स्वाभिमान का परित्याग कैसे कर दें वह—वह भी अपने ही बेटे के सामने, जो उनके अस्तित्व पर ठोकर लगाने पर तुल गया है! आँखों मे वेदना का सागर भरे वह एक मूक दर्शक के समान देखते रहे।

वीरेन्द्र सीढियाँ उतरने लगा तो निर्मला चीखी, "अरे, इस तरह खाली

हाथ ही चला जायगा, मेरा लाल !"

वीरेन्द्र रुका नहीं।

मोहनलाल पागल-से हो गए। अपने विद्रोही बेटे के लिए इतना प्यार, इतना गर्व उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया था। उनका जी किया कि भागकर बेटे को छाती से लगाकर वापस ले आएँ। हर नई चीज का तिरस्कार और उपहास करने वाले मोहनलाल के दिल में उनके लिए गहन आस्था उत्पन्न हो गई हो जैसे। पर उनके पैरों में जैसे किसी ने बेड़ियाँ डाल दी हों, मिथ्या अभिमान ने उनके होंठ सी दिए हों जैसे, चाहकर भी वीरेन्द्र को पुकार नहीं सके।

आखिर वीरेन्द्र सीढ़ियाँ उतर गया तो लड़खड़ाते पगों से मोहनलाल अपने कमरे में आ गए। खिड़की में से जाते हुए बेटे की ओर देखते रहे। उनके हृदय में आशा की एक किरण अभी भी शेष थी—शायद वीरेन्द्र वापस आ जाय ! पर धीरे-धीरे वह उनकी आँखों से ओझल हो गया तो मोहनलाल कटे वृक्ष की तरह चारपाई पर गिर गए। रोकने की भरसक चेष्टा करने पर भी उनकी आँखों से आँसू टपक पड़े। आखिर नहीं सहा गया तो चेहरे को हाथों से ढककर वह फूट-फूटकर रो पड़े। उनका मन हुआ कि चिल्लाकर कहें—लौट आओ, बेटा ! पर वीरेन्द्र तो जा चुका था—नजर और आवाज की पहुँच से बाहर !

२

देवता, आदमी और सिक्के

जिसने भी महीप की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सुना, स्तम्भित रह गया। दिल का रोगी वह ज़रूर था, पर तेतीस वर्ष की अल्पावस्था में ही वह इस दुनियाँ से नाता तोड़कर चल देगा, किसी ने सोचा तक न था। श्यामलाल ने आँखें पोंछते हुए कहा, "आदमी नहीं देवता था, देवता! सच है देवता पुरुषों को ईश्वर शीघ्र ही अपने पास बुला लेता है!"

मोहनसिंह ने भरे गले से कहा, "उसके चेहरे पर कभी कोई शिकन नहीं देखी। किसी का बुरा करना तो दूर रहा, उसने सोचा तक न था। हर-किसी की सहायता को तैयार रहता वह, जैसे सारी दुनियाँ के दुःख दूर करने का ज़िम्मा उसी का हो।"

किशनचन्द ने उस महानात्मा के सम्मान में झुककर कहा, "ऐसा आदमी फिर कभी देखने को नहीं मिलेगा!"

और नीरजा—पत्थर की मूर्ति के समान निस्तब्ध, चेतनाहीन वह मृत-पति के चेहरे की ओर देखे जा रही थी, मानो वह सहसा मुस्करा देगा और वह खुशी से पागल होकर उससे लिपट जायगी।

वीरेन्द्र ने सिसकते हुए आकर कहा, "अपने को सम्हालो, भाभी!"

पर नीरजा तो संज्ञाहीन हो चुकी थी, पथराई आँखों से उसने देवर की ओर देखा और फिर पछाड़ खाकर गिर पड़ी। वीरेन्द्र से और नहीं सहा गया, दीवार का सहारा लेकर पागलों की तरह रोते हुए बोला, "तुम कहाँ चले गए, भैय्या?"

शान्तिमोहन ने उसे चुप कराते हुए रुँधे कंठ से कहा, "अब चुप करो, बेटा, उसकी आत्मा को और दुःख न पहुँचाओ।"

सहानुभूति पाकर रुदन बढ़ जाता है, उनसे लिपटकर हिचकियाँ भरते हुए वीरेन्द्र बोला, "मैं भैय्या के बिना कैसे जी पाऊँगा, चाचाजी!" शान्तिमोहन के हृदय में आँसुओं का ज्वार-सा उमड़ा और एक कोने में जाकर वह फूट-फूटकर रोने लगे।

दोनों हाथों से चेहरा ढके सोमेश अलग रो रहा था। उसे वह दिन याद आया, जब उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे अपनी बाँहों में समेटकर रुँधे कंठ से महीप ने कहा था, "तुम चिन्ता मत करो बेटा, अभी मैं जो जिन्दा हूँ।" सोमेश ने उसके वक्ष में सिर छिपा लिया था—हाँ, महीप दादा के सिवा सारी दुनियाँ में अब उसका रहा ही कौन था ?

सोचकर कृतज्ञता से उसकी आँखें भर आईं—इंजीनियर बनकर इतने ऊँचे पद पर सोमेश के नियुक्त हो जाने का श्रेय महीप के सिवाय किसको है ? हाँ, एक दिन भी तो महीप ने महसूस नहीं होने दिया उसे कि वह अनाथ है, निराश्रित ! महीप का अपना बच्चा कोई न था, पर सारा प्यार, सारा दुलार सोमेश पर लुटाकर महीप ने उस अभाव की पूर्ति कर ली थी। याद करके सोमेश के मन में एक तूफान-सा उठने लगा, तो तो वह देवता पुरुष सचमुच अब इस दुनियाँ में नहीं रहा ? प्यार, ममता और स्नेह की वह प्रतिमूर्ति क्या हमेशा के लिए स्पंदनहीन, निश्चेतन बन गई ?

वीरेन्द्र ने आकर उसे सहारा देते हुए कहा, "चुप करो, सोमू, हम ही इस तरह हिम्मत हार दें तो भाभी पर क्या असर होगा !"

सोमेश ने आँसुओं से भीगा चेहरा ऊपर उठाया, देखा, रो-रोकर वीरेन्द्र की आँखें सूज गई थीं। चीखकर वह उससे लिपट गया।

उसे चुप कराने की चेष्टा करते हुए वीरेन्द्र बोला, "एक दिन तो सभी को जाना है सोमू पर इतनी ही उम्र में भैय्या ने जितना यश, जितना मान पाया, कितनों को मिलता है ? सच, यह दुनियाँ उनके योग्य नहीं थी, इसीलिए तो वह इतनी जल्दी ही देवलोक में वापस चले गए।"

और दिल में दर्द की एक लहर-सी उठी कि वीरेन्द्र ने दोनों हाथों से अपना चेहरा ढक लिया—जितना प्यार, जितना दुलार भैय्या ने उसे दिया था, कहाँ-किससे पाएगा अब वह ?

दुकान का मुनीम दहाड़ें मारकर रोता हुआ आकर बोला, "यह क्या हो गया, छोटे बाबू, ईश्वर इतना निर्दयी कैसे हो गया ?"

वीरेन्द्र आखिर किस-किसको चुप कराता ?

मुनीम कहे जा रहा था, "कभी किसी की तकलीफ़ नहीं देख सके बड़े बाबू ! अभी उस दिन मेरा चेहरा उतरा हुआ देखकर पूछने लगे, कुशल तो है मुनीमजी ? मैंने डरते-डरते कहा कि सरकार, घरवाली बीमार है और दवाई

के लिए । मेरे मुँह से शब्द निकले भी न थे कि दस-दस के दो नोट देते हुए बोले, अभी इनसे काम चलाओ मुनीम जी, बाकी फिर . ।" गला भर आने के कारण मुनीम वाक्य पूरा न कर पाया।

सारी दुनियाँ मनुष्य-रूपी उस देवता का गुणगान कर रही थी। लक्ष्मी विधवा हो गई तो महीप ने साठ रुपया महीना बाँध दिया। सुखिया के बेटे को अपने यहाँ नौकर रखकर उसने उसे जिन्दगी का सहारा दिया। भला ऐसा आदमी कब पैदा होता है!

किसी तरह रात कटी। पर वह सुबह एक ऐसी मनहूसी लेकर आई कि सबका दम घुटने लगा, दिल बैठने लगे, होंठ काँपने लगे। नहला-धुलाकर महीप का मृत शरीर तख्ते पर रखा जाने लगा तो रहा-सहा धैर्य भी खत्म हो गया। उफ़, जी को किस तरह कड़ा करके महीप का शरीर अग्नि को भेंट किया जा सकेगा? उस विशाल जनसमुदाय में कोई भी ऐसा न था जिसकी आँखों में आँसू न हों, जिसके दिल में हूक न उठ रही हो। उफ़, इतने महान् पुरुष का अन्त कितना करुण, कितना दयनीय था!

और नीरजा—किसके सहारे एकाकी जीवन का बोझ ढो पाएगी वह? घुल-घुलकर मरने के सिवाय लिखा ही क्या था अब उसकी ज़िंदगी में? जीवन में आखिर कौनसा आकर्षण था उसे अब? मरने वाला चल तो देता है, पर पीछे रहने वालों को पहाड़-सा दुःख जो वह दे जाता है, उसे कैसे ढो पाएँ वे?

आखिर महीप के शरीर को अग्नि की भेंट करके वे घर वापस आये। सबके दिलों पर मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ था और आँखों में उसकी भयानकता अंकित थी। मोहनसिंह ने हिचकियाँ लेते हुए कहा, "परसों महीप मिला तो बोला, यार, मेरे बाद और चाहे कुछ भी सोचो तुम, पर इतना ज़रूर कहोगे कि दोस्ती उसने खूब निभाई।"

कोई कहता भी तो क्या, मन में तो भावों का ज्वार-सा उमड़ रहा था। सहसा हड़बड़ाये-से अनिल ने वीरेन्द्र के कानों में फुसफुसाकर पूछा, "कुछ सुना, जीजा जी?"

वीरेन्द्र ने उदास चेहरा ऊपर उँठाया तो उसे इशारे से उठने का आदेश देते हुए वह बोला, "ज़रा इधर तो आइये।"

सबकी आँखें उत्सुकता से भर गईं, कान खड़े हो गए। आखिर क्या

बात हो गई ?

वीरेन्द्र आया, तो उसकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं और होंठ काँप रहे थे।

"क्यों, क्या बात थी, बेटा ?" श्यामलाल ने आगे बढ़कर पूछा तो सब पास खिसक आये।

शान्तिमोहन ने तसल्ली देते हुए कहा, "धैर्य धरो बेटा ।"

जाने क्यों वीरेन्द्र के होंठ भिंच गए।

सुखिया ने आकर कहा, "बहू बहुत रो रही है, बेटा ।"

जाने किस पर का क्रोध सुखिया पर उतरा चीखकर वीरेन्द्र बोला, "तुम लोग मुझे चैन लेने दोगे या ?"

सुखिया डरकर पीछे हट गई—हे ईश्वर, यह उसी देवता-पुरुष का छोटा भाई है क्या ?

सोमेश ने काँपते हुए आकर पूछा, "यह क्या सच है, भैय्या ?"

सबके चेहरे और गम्भीर हो गए—ज़रूर कोई बड़ी बात हो गई है; पर महीप की मृत्यु से बड़ी बात क्या हो सकती है ? मोहनसिंह ने व्यग्र होकर पूछा, "अरे, कुछ कहो भी, हुआ क्या है ?" वीरेन्द्र से अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर सोमेश ने अपना माथा ठोक लिया।

वातावरण में एक अजीब-सी उत्तेजना पैदा हो गई थी। आखिर बात क्या है ? सोमेश ने उत्तेजित होकर कहा, "महीप दादा सारी सम्पत्ति अपनी पत्नी के नाम कर गए हैं !"

सहसा जैसे बम गिरा हो, चौंककर सबने पूछा, "क्या ?"

सोमेश ने उसी लहजे में कहा, "भला भाभी को इतनी सम्पत्ति की आवश्यकता क्या है ? पत्नी के बहकावे में आकर महीप दादा ।"

किशनचन्द महीप का बचपन का मित्र था, डपटकर बोला, "तमीज़ से बोलो, सोमेश !"

सोमेश ने उत्तेजित होकर कहा, "आपको कुछ अन्तर नहीं पड़ता इससे, इसीलिए । जो भोगता है, वही महसूस कर सकता है जनाब !"

किशनचन्द ने बात दबाने के लिये कहा, "चुप भी करो सोमेश, सब लोग क्या कहेंगे !"

क्रोध से सोमेश की मुट्ठियाँ भिंच गईं।

शान्तिमोहन ने मोहनसिंह को कोहनी मारकर कहा, "यह तो बड़ा जुल्म किया महीप ने।"

निराशा से हाथ हिलाते हुए मोहनसिंह बोला, "अरे भई, कौन किसी का होता है इस दुनियाँ में, सबको अपने स्वार्थ की ही चिन्ता होती है। महीप कौन देवता था!"

वीरेन्द्र उनके पास ही बैठा था, कटुता से बोला, "अरे, काम करते करते तो हम मर जाते थे, महीप भैय्या कुर्सी तोड़ने के सिवाय करते ही क्या थे? लेकिन यश मिले तो महीप भैय्या को, और बदनामी हमारे सिर पर!"

किशनचन्द ने डाँटकर कहा, 'क्या बक रहे हो, वीरेन्द्र, देवता-स्वरूप भाई पर इस प्रकार का लाछन लगाते शर्म नहीं आती तुम्हें?"

वीरेन्द्र ने उत्तेजित होकर कहा, "अब चुप ही रहने दो, किशन भैय्या, जबान मत खुलवाओ। भैय्या को क्या हम जानते नहीं थे? काम करते-करते मर जाते थे, लेकिन सिवाय डाँट-फटकार के ।"

"वीरेन्द्र!"

श्यामलाल ने गर्म होकर कहा, "तुम चुप रहो, किशनचन्द! जिस पर जुल्म होगा, वह आवाज उठायेगा ही। यह सबूत दिया है महीप ने अपने देवतापन का?"

किशनचन्द ने फिर विरोध किया, "माना कि महीप ने इस बार ग़लती की, लेकिन उसने जो ज़िंदगी-भर दूसरों के लिए किया ।"

दीनदयाल ने बात काटकर कहा, "हर कोई अपने लिए ही करता है, किशनचन्द!"

किशनचंद अवाक्, स्तम्भित उसकी ओर देखता रह गया। यह वही दीनदयाल था जो अभी उस दिन महीप के सामने गिड़गिड़ाकर कह रहा था, "कल ही मेरी बेटी की शादी है महीप भैय्या, और अब वे लोग कहते हैं कि हम नक़द सात हज़ार के बजाय दस हज़ार से एक पैसा कम नहीं लेंगे। मेरी इज्ज़त का सवाल है महीप भैय्या, मेरी नाक कट जायगी!" महीप ने एक क्षण सोचकर चैक काटते हुए कहा था, "अरे, तो इसमें घबड़ाने की क्या ज़रूरत है, दीनदयाल? जैसी तुम्हारी इज्ज़त वैसी मेरी इज्ज़त! लो यह तीन हज़ार का चैक, काम चल जायगा न?"

दीनदयाल महीप के गले लगकर कृतज्ञता से फूट-फूटकर रो पड़ा था,

लेकिन आज वही दीनदयाल ।

और ये मोहनसिंह और शान्तिमोहन । किशनचद का जी भर आया। जब वीरेन्द्र और सोमेश ही इतने कृतघ्न निकले तो बाकी दुनियाँ से क्या शिकायत ?

कुछ देर चुप रहकर वीरेन्द्र चुनौती देते हुए बोला, "देखता हूँ कैसे हो पायेगा यह ! अदालत के, न्याय के द्वार बन्द नहीं हैं।"

किशनचद ने चौंककर पूछा, "क्या कहा, तुम मुकदमा चलाओगे ?"

वीरेन्द्र बोला, "इसमे चौंकने की क्या बात है ?"

किशनचद ने गर्म होकर कहा, "कानून इस मामल मे तुम्हारी कोई मदद नही कर सकता !"

सोमेश कटुता से बोला, "अब तुम चुप ही रहो, किशन भैय्या, बहुत कानून मत बघारो।"

किशनचद ने क्रोध से पागल होकर कहा, "तुम किस बात पर जायदाद मे हिस्सा माँगने चले हो, सोमेश ? याद हैं वे दिन जब अपने पिता की मृत्यु पर तुम अनाथ हो गये थे ? महीप ने तुम्हारे लिए जो किया, उसका सब बदला दे रहे हो तुम !"

सोमेश खिसियाकर पीछे हट गया, पर शान्तिमोहन ने आगे बढकर कहा, "अरे, तो जिसे अब तक बेटा कहकर महीप ने पाला, वसीयत लिखते समय उसका खयाल क्यों नहीं आया उन्हे ? तो वह सब क्या दिखावा था ?"

वीरेन्द्र ने एक बार फिर चुनौती दी, "खैर, इस सबका फैसला अदालत ही करेगी !"

दूसरे कमरे मे मूर्छित-सी बैठी नीरजा यह सब सुन रही थी। एक-एक शब्द उसके दिल को छलनी-छलनी कर रहा था। उफ़, क्या सुन रही है वह ? कुछ ही देर पहले जो लोग उन्हें देवता कह रहे थे, अब वे ही । तो क्या इन्सान सिक्के के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया ? उफ़, विश्वास नहीं होता, पर अपने ही कानो पर अविश्वास कैसे करे वह ?

आखिर नहीं रहा गया तो किसी तरह दीवार का सहारा लेते हुए कमरे मे आकर करुण-स्वर में वह बोली, "अभी उनको गए देर ही कितनी हुई है, वीरू भैय्या, उनकी आत्मा को तनिक तो शांति लेने दो।"

वीरेन्द्र ने उपेक्षा से मुँह फेर लिया—उँह, आई बडी उपदेश देनेवाली,

सो चूहे खाकर बिल्ली चली हज को ! नीरजा को वे दिन याद आए जब प्यार से विभोर होकर वीरेन्द्र उससे कहा करता था, "मैंने क्या खोया भाभी, एक माँ गई तो तुम्हारे रूप में दूसरी माँ मिल गई !"

नीरजा की आँखें फिर छलकने लगीं, किन्तु वीरेन्द्र उसी उपेक्षा-भाव में होंठ चबाता रहा और सोमेश खूनी आँखों से उसे घूरता रहा।

किशनचन्द से रहा नहीं गया, रुँधे कंठ से तनिक अधिकारपूर्ण स्वर में बोला, "तुम यहाँ क्या करने आई हो भाभी, चलो अन्दर आराम करो। मेरे रहते कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता !"

क्रोध से पागल होकर वीरेन्द्र उठ खड़ा हुआ, सोमेश की आँखें लाल हो गईं और सारा जनसमूह एक-दूसरे की ओर इस तरह देखने लगा मानो कह रहा हो—*कम्बख्त बटा आया हिमायती बन के !*

नीरजा फूट फूटकर रो पड़ी, "तो तो दुनियाँ में क्या एक ही नाता, एक ही रिश्ता है, किशन भैय्या—चाँदी के सिक्कों का ?"

पर वे लोग उसकी सुनें तब न, वे तो मन्त्रणा करने में व्यस्त थे कि महीप की इस पाशविकता का, अत्याचार का करारा जवाब किस तरह दिया जाए।

जाने कहाँ से नीरजा में कोई शक्ति आ गई, पागलों के समान वह पास पड़े सदूक की चीजें बाहर फेंकने लगी। किशनचंद ने आगे बढ़कर कहा, "क्या कर रही हो भाभी, होश में आओ।"

"जिन्दगी में आज पहली बार तो होश में आई हूँ, भैय्या ।" जाने *क्या था उन सूनी आँखों में कि किशनचंद पत्थर के बुत की तरह खड़ा रह* गया।

कागज का एक पुलिंदा फेंकते हुए नीरजा चीखकर बोली, "लो, पापियो, यह है वसीयतनामा !"

सारे जनसमूह में हलचल-सी मच गई। वीरेन्द्र ने लपककर पुलिंदा उठाया तो उसके हाथ से उसे छीनते हुए सोमेश बोला, "मैं पढ़ता हूँ।"

सब सोमेश को घेरकर खड़े हो गये और सोमेश ज़ोर-ज़ोर से वसीयतनामा पढ़ने लगा, "मैं, महीप कुमार, पूरे होश-हवास में, अपनी इच्छा से, अपनी मृत्यु के पश्चात् अपनी पत्नी नीरजा, भाई वीरेन्द्र और बेटे सोमेश को अपनी सारी सम्पत्ति के बराबर के उत्तराधिकारी नियुक्त करता हूँ ।"

"अब तो खुश हो, भैय्या ?" चीखकर नीरजा मूर्छित हो गई।

सबको जैसे लकवा मार गया हो, बुत की तरह एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। आखिर किशनचंद चिल्लाकर बोला, "अरे, कोई पानी तो लाओ।"

सोमेश भागकर पानी ले आया, वीरेन्द्र चम्मच में ब्रांडी डालने लगा और मोहनसिंह चिल्लाकर बोला, "अरे, सब उसे घेरकर क्यों बैठ गये हो, उसका दम नहीं घुट जायगा? पंखा कहाँ है?"

नीरजा ने आँखें खोलीं, तो सोमेश ने प्यार का अभिनय करते हुए कहा, "अब क्या हाल है, भाभी?"

वीरेन्द्र ने चिल्लाकर कहा, "कहाँ गया अनिल का बच्चा? यह सारी शरारत उसी की थी। बदतमीज़, नामाकूल आने तो दो उसे!" फिर आँखें पोंछते हुए बोला, "मुझे माफ कर दो, भाभी, आवेश में आकर अपने देवता-तुल्य भैय्या के लिए जाने क्या-क्या कह गया।"

ब्रांडी का चम्मच नीरजा को देते हुए सोमेश बोला, "कब तक रोती रहोगी, भाभी? दादा नहीं रहे, पर हम तो जिन्दा हैं!"

घृणा से नीरजा ने उसका हाथ झटक दिया तो खिसियाकर सोमेश पीछे हट गया।

शांतिमोहन ने नाक सिकोड़ते हुए कहा, "ऐसे देवता-पुरुष पर इस प्रकार का आरोप छि!"

गद्गद् स्वर में मोहनसिंह बोला, "देवता और किसे कहते हैं!"

शांतिमोहन ने सिर झुकाकर कहा, "ऐसे महान् पुरुषों का तो स्मारक बनना चाहिए!"

किशनचंद अब तक सारे नाटक को, हृदय-परिवर्तन के इस महान् दृश्य को एक मूक दर्शक के समान देखता रहा था, व्यंग्य से बोला, "नई यह मानना पड़ेगा कि अभिनय-कला में तुम लोग खूब पारंगत हो।"

दीनदयाल तिलमिलाया, "बहुत बोलो मत किशनचंद, महीप तुम्हारा दोस्त था, तो हमें भी ग़ैर नहीं मानता था।"

शांतिमोहन ने मुँह बिचकाकर कहा, "उँह, बड़ा आया उपदेशक कहीं का!"

वीरेन्द्र को बल मिला, गला साफ़ करते हुए बोला, "जैसे भैय्या के साथ हमारा तो कोई सम्बन्ध ही न था।"

सोमेश को बड़प्पन दिखाने का मौका मिला, "क्या हो गया है आप सबको ? लड़ने-झगड़ने से पहले कम-से-कम अवसर और परिस्थिति का तो ध्यान रख लिया करें।"

नीरजा का दम घुटने लगा। उफ, कितनी आसानी से, गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं ये लोग ! ज़िन्दगी का, इंसानियत का एक ही माप-दंड है इनके पास—सिक्का, और केवल सिक्का ! उसके दिल में दर्द की एक लहर सी उठी कि दीवार का सहारा लेकर पागलों की तरह वह बोली, "मेरा हिस्सा भी इन्हीं के नाम करवा दो, किशन भैय्या, ताकि ये लोग उन्हें और भी बड़ा देवता मान सकें !"

३

मन के मोड़

साढ़े नौ बज जाने पर भी जब राकेश घर नहीं लौटा, तो खीझकर रीता चारपाई पर लेट गई। नौकर काम समाप्त करके चला गया था, लेकिन अँगीठी में आँच अभी बाकी थी। खाना गर्म न हो तो राकेश के गले से नीचे नहीं उतरता, इस कारण उसके आने तक अँगीठी जलती रखनी पड़ती थी। खाना गर्म करने और खिलाने में साढ़े दस बज जाते, तब कहीं रीता फारिग हो पाती। एक दिन की बात होती तो सह ली जाती, लेकिन सब की भी तो कोई सीमा होती है आखिर। भला यह भी कोई बात है कि पत्नी तो पति की राह में पलक-पाँवड़े बिछाए-बिछाए थक जाय और पति महोदय यार-दोस्तों के साथ या पार्टियों में मौज उड़ाते फिरें। आखिर पत्नी की भी उमंगें होती हैं, हसरतें होती हैं। सोचते-सोचते रीता की आँखें भर आईं—धरती के कठोर यथार्थ से टकराकर उसके सारे सपने चूर हो गए थे।

राकेश आया तो पत्नी को चारपाई पर लेटा देखकर जरा खाँसा, किन्तु रीता उठी नहीं। करवट बदलकर उसने राकेश की ओर पीठ कर ली। दो क्षण चुप रहने के पश्चात् एक लम्बी साँस खींचकर राकेश बोला, "भला यह भी कोई ज़िन्दगी है कि इन्सान को साँस तक लेने की फुरसत न हो!"

रीता चुप रही, किन्तु वह कहता गया, "लेकिन काम नहीं करे तो इन्सान आखिर जिए कैसे? पेट की समस्या को हल कैसे करे? पाँच बजे उठा ही था कि सेक्रेटरी ने एक ज़रूरी काम सौंप दिया।"

रीता फिर भी चुप। आखिर चारपाई पर बैठकर राकेश ने पत्नी को मनाते हुए कहा, "रूठ गई क्या?"

रीता ने उसका हाथ झटक दिया तो उस पर तनिक झुककर, हँसकर वह बोला, "सच, रीता, गुस्से में तुम बहुत सुन्दर लगती हो!"

रीता और नहीं सह सकी, रुँधे कंठ से बोली, "तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, और न सताओ मुझे। खाना खाना हो तो गर्म कर दूँ, वरना पेट तो भरकर ही आये होगे तुम।"

"अरे, तुम रो रही हो ?"

"तुम दिखावा क्यों करते हो, जी ?" खीझकर रीता ने तीखे स्वर में कहा, "तुम्हें जितनी परवा है मेरी, वह मैं खूब जानती हूँ।"

"अब तुम्हें तो रीता ।"

"हाँ, हाँ, बकने की आदत हो गई है मुझे, यही न ? ऊब गये हो मुझसे, तो किसी को ले आओ न, जिन्दगी चैन से कटेगी तुम्हारी !"

राकेश को क्रोध आ गया, "सो तो करना ही पडेगा। रोज-रोज की इस भिक-भिक से तो मैं तंग आ गया हूँ। दिन-भर की थकान के बाद इंसान घर आता है कि दो क्षण हँस सके, बोल सके, लेकिन धिक्कार है ऐसी जिन्दगी को !"

रीता दबी नही, बोली, "क्यो बहाने बनाते हो ? बोलो, आज सुनील के साथ पिक्चर नही गये थे तुम ?"

राकेश कुछ झेंप-सा गया, बोला, "गया तो था। काम करके उठा ही था कि वह पीछे पड गया क्यो, तुम्हें सुनील मिला था क्या ?"

रीता लेकिन कहती गई, "इसमे तुम्हारा भी क्या अपराध ? यार-दोस्तों से छुट्टी मिले, तब न ! रूले ही पत्नी इन्तजार करते-करते ।"

झेंप मिटाने के लिए स्वर को जरा कठोर बनाकर राकेश बोला, "हर वक्त व्यंग्य करने की आदत हो गई है तुम्हारी। मेरा जहाँ जी चाहेगा जाऊँगा, जब जी चाहेगा लौटूँगा। सुना ?"

उस रात खाना किसी ने नही खाया। राकेश कपडे बदले बिना ही सो गया और रीता सारी रात अपने भाग्य को कोसती रही। आखिर क्या करे वह, पत्नी के अधिकार का परित्याग कैसे कर दे वह ? आखिर वह भी तो इन्सान है !

करवटें बदलते-बदलते किसी तरह रात कटी, किन्तु राकेश देर तक सोता रहा तो डरते-डरते वह पास जाकर बोली, "क्यो, आज चाय नही पियोगे क्या ?"

राकेश चुप !

"अब उठो भी," स्वर को कोमल बनाकर वह बोली, "ऑफिस को देर हो रही है।"

राकेश ने सुलह कर लेना ही ठीक समझा। अँगडाई लेते हुए बोला,

"अरे, इतनी देर हो गई और तुमने जगाया नहीं !"

रीता ने चैन की सांस ली—इनमें एक गुण है कि किसी बात की गांठ नहीं बांध लेते, बोली, "बस अब तुम जल्दी से मजन कर लो तो मैं चाय मेज पर रखूँ।"

शाम को राकेश घर जल्दी आ गया तो रीता खिल गई, "क्यों, कल की डांट से डर गए क्या, जो आज इतनी जल्दी आ गए ?"

राकेश ने उत्तर नहीं दिया, फिर आरामकुर्सी पर बैठकर थके स्वर में कहा, "एक कप चाय तो देना, रीता !"

कुछ चिन्तित-सी हो रीता ने पूछा, "क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

"कुछ नहीं, वैसे ही जी जरा मिचला रहा है।"

"जाने क्या क्या खाते हो तुम हर रोज रेस्तोरां में ! पेट खराब नहीं होगा तो क्या होगा ! रोज कहती हूँ, पर मेरी तुम सुनो, तब न !"

"अरे, मुझे चाय का प्याला तो दे दो पहले।"

चाय का प्याला मेज पर रखकर रीता फिर बोली, "अब कुछ दिन परहेज करो। आखिर इस तरह शरीर कब तक साथ देगा ?"

राकेश चिढ़ गया, बोला, "तुम तो उपदेश देने का मौका ढूँढती हो जैसे। बस बहाना चाहिए तुम्हें नुक्ताचीनी करने का।"

रीता को ठेस-सी लगी, "भला मैंने ऐसी क्या बात कह दी जो. . ?"

"मुझे और परेशान मत करो, रीता, मुझे आराम करने दो !"

अपमानित सी रीता दूसरे कमरे में चली गई। आँखें उसकी छलक रही थीं। अपमानित, उपेक्षित जिन्दगी का बोझ कब तक ढो पायेगी आखिर वह ?

रीता को उस दिन की याद आई। रविवार का दिन था। हल्की-हल्की फुहार पड़ रही हो, ठंडी-ठंडी हवा बह रही हो तो राकेश को नशा-सा हो जाता है। सिगरेट पीने का मोह वह संवरण नहीं कर पाता। एक पैकेट फूँक चुका तो रामू को पैसे देते हुए बोला था, "एक पैकेट गोल्ड-फ्लेक !"

आवाज सुनकर रीता उसके पास चली आई थी, "अब बस भी करो !"

उसे अपनी ओर खींचते हुए वह बोला था, "चाय रामू अपने-आप बना देगा, तुम यहां बैठो मेरे पास !"

रीता को रोमांच हो आया था, रूठने का अभिनय करते हुए बोली थी,

"रहने दो अपना यह प्यार, आज तक मेरी एक भी बात मानी है तुमने कभी ?"

"अरे, तुम्हारी कोई बात टालने का साहस है मुझमें ?" हँसकर वह बोला था। "कृष्णा बुआ की बात इतनी जल्दी भूल गईं ? बहू ने तो राकेश पर जादू कर दिया है, यही कहा था न उन्होंने ?"

रीता के दिल में गुदगुदी-सी होने लगी थी, पर अपने मन के भाव को दबाते हुए बोली थी, "उँह, रहने दो,-इतनी बार कहा कि इतनी सिगरेट मत पिया करो, पर तुमने तो कसम खा रखी है हर बात न मानने की।"

रामू के सिगरेट ले आने पर पैकेट खोलते हुए वह बोला था, "भई, तुम तो यों ही नाराज़ हो जाती हो, भला कोई बात भी हो।"

"तो तुम सिगरेट ज़रूर पिओगे ?"

सिगरेट सुलगाते हुए वह बोला था, "तुम तो भई, हर बात पर टोकती हो।"

रीता को चोट-सी लगी थी—इन्हें मेरी इतनी भी परवा नहीं है, अगर नहीं पीते तो क्या क़हर ढह जाता ? उसकी आँखें भर आई थीं। अपने को उससे छुड़ाते हुए वह बोली थी, "मुझे मत छुओ।"

आँसू देखकर वह चकित रह गया था, "यह क्या पागलपन है, रीता ?"

रीता की हिचकियाँ बँध गई थीं।

"अच्छा भई, नहीं पीता, अब तो खुश हो !"

रीता को लगा था कि जैसे राकेश ने व्यंग्य किया हो, बोला, "मेरे नाराज़ होने से क्या बनता-बिगड़ता है तुम्हारा।"

राकेश ने मज़ाक करने की कोशिश की थी, "आज पहली बार तुमने अक्ल की बात की है।"

आग में जैसे घी पड़ गया हो। रीता चीख उठी थी, "हाँ-हाँ, मैं फूहड़-गँवार तुम्हारे गले मढ़ दी गई हूँ, तो ले आओ न अपनी पसन्द की ! झगड़ा मिटे रोज़-रोज़ का !"

और का एक कश खींचकर सिगरेट फेंकते हुए बोला था, "लो बाबा, अब तो मुस्करा दो।"

धुएँ के बादल उसके चेहरे से टकराए तो रीता ने नाक सिकोड़ ली

था। रुलाई उसकी बढ़ गई थी—कितना खीझकर सिगरेट फेंकी है इन्होंने, जैसे मैं इनके पथ की एक बहुत बड़ी बाधा हूँ। रुँधे कंठ से बोली थी, "पीते रहो, मैं कौन होती हूँ तुम्हें मना करने वाली!"

राकेश मनाता रहा था, किंतु रीता के होंठों पर मुस्कान नहीं आई, तो खीझकर वह बोला था, "सच, रीता, मैं तुम्हें आज तक नहीं समझ सका। झगड़ा करने का तो तुम कारण ढूँढती हो जैसे।" और पाँव पटकते हुए वह कमरे से बाहर चल दिया तो रीता के नयनाकाश में घिरे मेघ बरस पड़े थे।

अतीत से रीता वर्तमान में आई तो एक बार फिर वह फूट-फूटकर रो पड़ी। जाने क्या हो गया है इन्हें, चाहे इनके भले की बात कहूँ तब भी काटने को दौड़ते हैं। आखिर मैं इनकी पत्नी हूँ, देखकर आँखें कैसे मूँद लूँ, होंठ कैसे सी लूँ?

दूसरे दिन सुबह चाय पीते समय जब राकेश अपनी आदत के विपरीत एक शब्द भी नहीं बोला, तो चाय रीता के होंठों के अन्दर नहीं गई। उसने कनखियों से पति की ओर देखा। भृकुटियाँ तनी हुईं और भाव-मुद्रा कठोर! कुछ कहने की रीता की हिम्मत नहीं हुई, चुप देखती रही।

बिना कुछ कहे ही राकेश ऑफिस जाने लगा, तब किसी तरह डरते-डरते वह बोली, "सर्दी बढ़ गई है, स्वेटर तो पहन लो।"

राकेश चुप रहा तो अन्दर से स्वेटर लाकर वह बोली, "कल ही पूरा किया है मैंने, देखूँ तो कैसा लगता है।"

साइकिल पकड़कर चलने की चेष्टा करते हुए वह बोला, "मुझे जाने दो, देर हो रही है।"

उसका हाथ पकड़कर मनाते हुए वह बोली, "पहनने में देर ही कितनी लगेगी? कहीं हवा लग गई तो ।"

झल्लाकर, उसका हाथ झटककर वह बोला, "अपना भला-बुरा मैं खुद समझता हूँ रीता, हर बात में टाँग मत अड़ाया करो!"

रीता को जैसे उसने थप्पड़ मार दी हो। स्तम्भित-सी वह जाते हुए पति की ओर देखती रही। तो तो राकेश ऊब गया है क्या मुझसे? पर आखिर अपराध क्या है मेरा?

उस दिन उसने खाना नहीं खाया, भूख ही नहीं लगी। सारा दिन उसकी आँखों की गागर छलकती रही। जब जी कुछ हलका हुआ और अतीत

के मादक क्षणों, प्यार की बातों, वायदों-कसमों, प्रेमोपहारों की उसे याद आई तो रीता के हृदय में पति के प्रति प्यार का ज्वार-सा उमड आया। ओह, कितने अच्छे हैं ये ! कितना प्यार करते हैं मुझे ! हाँ, क्रोध आता है तब जो जी में आता है, कह जाते हैं, सोचते नहीं। पर हाँ, इसान उसी से तो नाराज होता है जिस पर कुछ अधिकार हो। क्रोध प्यार का भी तो सूचक है !

रात को देर से जब राकेश घर आया तो रीता सारा क्रोध भूल चुकी थी। खाना परोसकर उसके हाथ धुलाते हुए वह बोली, "कितने दुबले होते जाते हो तुम, दोपहर में फल क्यों नहीं खा लेते ?"

राकेश की भृकुटियाँ फिर तन गईं। कुछ क्षण पश्चात् रीता बोली, "अब अपने लिए दो चार पैंटों का कपडा ले आओ, पुरानी तो सब फट गई हैं।" और फिर प्यार से विभोर होकर, "तुम तो एकदम बच्चे हो, जरा भी खयाल नहीं रखते अपना !"

राकेश का सुबह का क्रोध अभी उतरा नहीं था। वह झुँझला उठा—उठते-बैठते, सोते-जागते उपदेश, नुक्ताचीनी, आखिर कोई सीमा भी हो ! एकदम मूर्ख समझ लिया है मुझे। तीखे स्वर में बोला, "मैं कहता हूँ, तुम अपनी यह आदत कब छोडोगी ? हर रोज की किचकिच से मैं तंग आ गया हूँ, पर तुम पर असर ही नहीं होता !"

रीता स्तम्भित रह गई, बोली "मैंने आखिर क्या कह दिया जो ।"

"हाँ-हाँ, तुम तो कभी कुछ कहती नहीं हो, मेरा ही दिमाग खराब हो गया है।"

रीता सिसकने लगी, "जाने क्या हो गया है तुम्हें। चाहे कुछ कहूँ, काटने को दौडते हो।"

"अब तुम चुप रहोगी या ।"

सिसकते सिसकते वह बोली, "तुम्हारी कसम जो कभी तुम्हारी किसी बात में दखल दूँ।"

राकेश को दया नहीं आई, बोला, "बहुत कृपा होगी आपकी, कुछ चैन तो मिलेगा।"

रीता चारपाई पर लेट गई। मेघ फिर उमडे, फिर बरसे और रीता की आँखें नहाती रहीं उसमें, गलती रहीं।

सुबह हुई, यन्त्रवत रीता उठी, रसोई में गई और चाय मेज पर रख दी। राकेश ने कनखियों से उसकी ओर देखा, वह चुपचाप चाय पी रही थी। राकेश को रह रहकर अपने पर क्रोध आ रहा था–आखिर क्या हो गया था उसे कल रात। और कोई बात नहीं सूझी तो बोला, "मैं टोस्ट नहीं लूँगा आज।"

और कोई दिन होता तो रीता सुनकर चौंक उठती, खाने के लिए आग्रह करती। पर आज वह कुछ बोली नहीं, चुपचाप चाय पीती रही। राकेश को कुछ अजीब-सा लगा, पर सोचकर उसे खुशी हुई—दिमाग ठिकाने आ गया लगता है!

ऑफिस जाने से पहले खाना खाते समय रीता उसकी कटोरी में गोभी और डालने लगी तो हाथ से रोककर उसने कहा, "बस, और कुछ नहीं लूँगा।"

और कोई दिन होता तो रीता कहती, "अरे, तुमने खाया ही क्या है आज?" पर आज वह अपना बढ़ा हुआ हाथ पीछे करके वापस रसोई की ओर चल दी। दरअसल राकेश का पेट भरा नहीं था, पर मना कर चुका था, इसलिए दुबारा माँगने में आज उसे न जाने क्यों झिझक आ गई। दो क्षण वह बैठा रहा, शायद रीता दुबारा पूछने आए। पर वह नहीं आई तो झुँझला-कर वह उठ खड़ा हुआ—अकड़ खत्म नहीं हुई अभी, सोचती होगी मैं मनाने आऊँगा, हुँह!

रात को उसे घर लौटने में दस बज गए। सारे रास्ते वह बहाना सोचता आया। कह दूँगा कि भई, इंस्पेक्टर आ रहा है कल, सो हिसाब किताब ठीक करने में इतनी देर लग गई। या कि, भई, कपूर कई रोज से बीमार है, फर्ज-अदायगी के लिए उसे देखने जाना पड़ा, और बीमार आदमी के पास से तो, तुम जानती ही हो, जल्दी उठना कितना मुश्किल होता है। और या !

डरते-डरते उसने कदम अन्दर रखा, दीवार के साथ साइकिल टिकाई और कमरे में जाकर वह कपड़े बदलने लगा। पति को देखकर रीता खड़ी हो गई, फिर बोली, "खाना परोसूँ?"

सुनकर राकेश को आश्चर्य हुआ। एक गहरी नजर उसने पत्नी पर डाली। उसके चेहरे पर क्रोध या असंतोष की एक भी रेखा न थी, मुद्रा एक दम भावहीन। राकेश ने चैन की साँस ली, फिर कहा, "हाँ, सुबह से कुछ-नहीं खाया है आज।"

रीता खाना परोस लाई। दोनो चुप खाते रहे। राकेश ने उसकी ओर देखा, वह पानी पी रही थी। उसके मन मे एक अजीब-सी उथल-पुथल होने लगी—यह कुछ बोलती क्यो नही, देर से आने का कारण क्यो नही पूछती ?

रीता ने पति की थाली की ओर देखा, दाल खत्म हो गई थी। वह दाल डालने लगी तो राकेश के मुँह से फिर निकल गया, "नहीं, बस !"

रीता ने फिर प्रतिवाद किए बिना ही हाथ पीछे कर लिया तो उसे चोट-सी लगी, फिर दबे स्वर मे बोला, "अच्छा, थोडी-सी दे दो !"

रीता ने दाल उसकी कटोरी मे डाल दी।

अपनी-अपनी चारपाई पर दोनो लेट गए तो राकेश को जाने क्यों घुटन-सी महसूस होने लगी। आखिर क्या हो गया है रीता को, मैंने आखिर ऐसी क्या बात कह दी थी जो . । आखिर मैं उसका पति हूँ। बोले बिना जी नहीं माना तो बोला, "क्यो, सो रही हो क्या ?"

"नहीं, कोई काम है ?"

राकेश चुप हो गया। अब कोई काम हो तभी वह उसे बुला सकता है ?

फिर बोला, "क्यो, तबियत तो ठीक है ?"

"हाँ, क्यो ?"

राकेश तिलमिला सा गया। क्या हो गया है इसे, जैसे बोलना ही भूल गई हो। एक लम्बी चुप्पी के बाद सुलह का हाथ बढाते हुए बोला, "कल पिक्चर देखने चलोगी, क्या ?"

पिक्चर देखने की शौकीन रीता बचपन से ही है, जब तक सप्ताह मे एक पिक्चर न देख ले, उसे चैन नही पडता। पर आज उसके स्वर मे कोई उत्साह न था, बोली, "हाँ, देख लूँगी।"

राकेश का सारा उत्साह ठडा पड गया, करवट बदलते हुए बोला, "कल मेरे ऑफिस से आने तक तैयार हो जाना।"

फिर वही सक्षेप मे, "जी !"

दूसरे दिन सुबह चाय पर भी वही चुप्पी, वही घुटन, वही उमस ! रीता यन्त्रवत् कार्य करती रही, जैसे उसकी अपनी कोई इच्छा न हो, कोई अधिकार न हो। देखकर राकेश को फिर क्रोध आ गया—उँह, दिमाग आसमान पर चढ गया है, जितना मनाओ, उतना ही ऐंठती जाती है।

शाम को जान-बूझकर वह पिक्चर के लिए घर नही आया—करतो

रहे इंतजार, मेरी बला से ! रात को वह मंडप के लिए तैयार होकर आया। आज मैं बता दूंगा कि पत्नी के इशारों पर नाचने वाले कोई और होते हैं, हो किस ख्याल में तुम ?

रीता की आंखें छलक-सी रही थीं। देखकर राकेश को सतोष सा हुआ। पर उसने कोई शिकायत नहीं की, तो राकेश को निराशा हुई। उसके कुछ कहने की प्रतीक्षा करके वह बोला, "एक जरूरी काम पड़ गया था रीता, इसलिए ।" उसके स्वर में जो औपचारिकता, शिष्टता थी, उस पर स्वयं राकेश को आश्चर्य हुआ।

रीता ने प्रतिवाद नहीं किया, कहीं फिर राकेश को क्रोध आ गया तो ..। बोली, "कोई बात नहीं।"

खाना किसी तरह निगल तो वह गया, पर उस रात वह सो नहीं सका। एक अभाव-सा, दर्द-सा महसूस होने लगा उसे। जैसे अपने ही घर पराया हो गया हो वह। जैसे इन दो-तीन दिनों में दुनियां बदल गई हो, प्यार के वे नाते कच्चे धागे की तरह टूट गए हों, जिंदगी जैसे दम तोड़ रही हो। उसने दिल को समझाने की, मुस्कराने की कोशिश की—अरे, क्या हो गया है मुझे ? भला प्यार भी कभी मरता है ?

लेकिन रीता की उदासीनता की याद आई तो उसे लगा कि वह उपेक्षा से मुस्करा रही हो जैसे, उस पर व्यंग्य कर रही हो। राकेश के दिल में एक ज्वार-सा उठा, उसने होंठ भींच लिए। जिंदगी के प्रति इतनी उदासीनता, इतनी अनास्था, इतनी विरक्ति उसने कभी अनुभव नहीं की थी। सूने मन से वह रीता की ओर देखता रहा, वह सो रही थी, निश्चिंत, निर्लिप्त !

दूसरे दिन राकेश ने देखा, रीता की साड़ी का रंग फीका पड़ गया था और वह कई जगह से फट गई थी। देखकर राकेश को फिर दर्द-सा हुआ। साड़ी फट गई है तो रीता नई साड़ी के लिए तकाजा क्यों नहीं करती ? वह भूल गया कि एक बार चिढ़कर उसने रीता से कहा था, "बहुत तकाजे मत किया करो, रीता !"

चुप्पी को दूर करने के लिए वह बोला, "अरे, साड़ी फट गई है तो दो-तीन नई साड़ियां क्यों नहीं खरीद लेतीं ?"

प्यार के दो शब्द सुनकर रीता के चेहरे पर कांति-सी आई, फिर बोली, "अभी जरूरत नहीं है, फिर खरीद लूंगी।"

दर्द और बढ़ा। आखिर रीता मचलकर, मेरी बाँह पकड़कर कहती क्यों नहीं, कि चलो, अभी खरीद कर दो ! राकेश से रहन नहीं हुआ, काँपते होठों से बोला, "तुम मुझ से ऊब गई हो, रीता ?"

वह चौंकी, 'क्या कह रहे है आप ?"

"तुम मुझे इतना पराया समझती हो, मैंने कभी नहीं सोचा था।"

"क्या हो गया है तुम्हें, आखिर कोई बात भी हो !"

पर राकेश उसी लहजे में बोला, "तुम्हारी यह उपेक्षा, उदासीनता मैं बच्चा नहीं हूँ, रीता। तुम नाता तोड़ना चाहती हो, तो मेरी ओर से तुम पर कोई प्रतिबन्ध नहीं।"

रीता सकते मे आ गई, रुँधे कंठ से बोली, "क्या कह रहे हो तुम, तुम्हारे सिवाय मेरा और कौन है इस दुनिया में ?'

अब की राकेश के चौंकने की बारी थी, "अरे, तुम रो रही हो ?"

रीता की हिचकियाँ बँध गई, बोली, "आखिर क्या चाहते हो तुम ? कुछ कहूँ तो मुसीबत, न कहूँ तो मुसीबत !"

राकेश को आशा की एक किरण दिखाई दी, बोला, "सच कहो, रीता ! तुमने इन तीन-चार रोज से मुझ से यह जो नाता तोड़ रखा है ।"

बीच में ही रोककर रुँधे कंठ से वह बोली, "नाता मैंने तोड़ा है या तुमने ? तुम्हीं ने मना किया था कि तुम्हारी बातों में दखल न दिया करूँ ! इन तीन-चार दिनों में कितनी मानसिक यातना भोगी है मैंने !"

'तो तो रीता !" हर्ष के अतिरेक में राकेश काँप उठा। और रीता ने अपनी रोती हुई आँखें उसके वक्ष में छिपा ली।

४
केप्रन साहब

आप इसे मेरी कमजोरी कह लीजिए या जीवन
पर से मेरा विश्वास कुछ डिग-सा गया था।
अभिनय के सिवाय और कुछ नहीं। पर जब मैं
आया तब जैसे मुझे नई रोशनी देखने को मिली
पहनी जाने है। उनकी भी सरलता, जिसका न
खिझाने और तंग करने में हमें विशेष आनन्द प्राप्त
मिलो। उनकी नज़र बराबर सारी क्लास—के
मे हमारे अंग्रेज़ी के प्रोफेसर थे—एक-दूसरे को
करने और खिलखिलाने में व्यस्त रहती, पर कैप्र
करके सारे कमरे को बच्चों के-से मुक्त हास्य
चेहरे पर वेदना की गहरी रेखाएँ खिंच जाती औ
पश्चात् एक लम्बी साँस भरकर कहते, "मेरे ब
सीखोगे कि नहीं ?"

क्रोध उन्हें बहुत कम आता था, पर क्रोध आ
डेस्क पर भूलने लगते, चेहरा उनका अंगारे-सा लाल
आग निकलने लगती और सारी क्लास में मौत का-स
क्या केप्रन साहब भी क्रोध कर सकते हैं।

किन्तु उनको शान्त करना हम जानते थे। "मुझे
बहुत-भर की देर होती कि वह एकदम शान्त हो जाते।
उनके चेहरे पर साकार हो जाती। "मेरे बच्चे, तुम मुझ
हो ? मैं मैं ," और शब्द अधूरे ही रह जाते, किन्तु उ
छिपे स्नेह और प्रेम की छाप हमारे दिल पर आज भी अंकित

मुझे वह दिन कभी नहीं भूलेगा। उस दिन सारी क्लास
हुई थी और केप्रन साहब बार बार एक के बाद एक से चुप रह
कर रहे थे। किन्तु सरल व्यक्तियों के लिए हमारे दिल में श्रद्धा

कटु अनुभव, मानवता
लगा था कि शायद
साहब के सम्पर्क में
जो जिन्दगी की
उठाकर उन्हें
ाने को नहीं
कैम कॉल
न, उन्हें
अनदेखी
ः ढाल
हुए
ान

मन कितना ही हो, उनको खिझाने मे एक विशेष आनन्द आता है। वह बेचारे बडे परेशान थे। इतने मे अवस्थी ने मुझसे कागज का एक पन्ना मांगा। मैं देने ही लगा था कि कैप्टन साहब डेस्कों से भूलते, क्रोध से कांपते मेरी ओर आये, "तुम्हें आखिर शर्म आएगी कि नही ? जितने बडे होते जाते हो तुम, उतने ही बदतमीज, और और और कोई होता तो शर्म से डूब मरता।"

सारी क्लास मे सन्नाटा छा गया था। मैं सिर भुकाए चुप सुनता रहा, आखिर कोशिश करके बडी मुश्किल से बोला, "सर, मैं तो अवस्थी को कागज दे रहा था, मैंने उससे बात बिलकुल नही की।"

कैप्टन साहब सकते मे आ गए, "तो तो मैंने तुम्हें बेकसूर ही डांटा ?" और पश्चात्ताप की वह प्रतिमूर्ति बन गए, 'मुझे बहुत अफ़सोस है, सुरेन्द्र ! मैं क्षमा-याचना करता हूँ। मुझे माफ़ कर दो, प्लीज फारगिव मी।"

सारी क्लास आँखें फाडे उनकी ओर देख रही थी। शर्म के मारे मेरे मुँह मे इसके अतिरिक्त शब्द ही नही निकल रहे थे, "सर, आप मुझे शर्मिन्दा कर रहे है, सर, आप ।" किन्तु वह थे कि कहते जा रहे थे, "आई बेग योर पार्डन, आई बेग योर पार्डन ।"

वह दृश्य मेरी आंखो के सामने आज भी नाच रहा है—मैं यदि चित्रकार होता तो उस दृश्य को अंकित कर देता। अपने ही शिष्य से इस प्रकार क्षमायाचना करने का साहस और महानता कितने लोगों मे है ?

उनकी महानता का एक और उदाहरण इसके कुछ रोज बाद मिला। सुशीलकुमार के पास किताब नही थी, इस कारण कैप्टन साहब सुशील के डेस्क पर अपनी किताब रखकर पढ रहे थे और सुशील उन्हें हिन्दी मे एक के बाद एक गाली देता जाता था, "साला, यहीं आकर जम गया, टलता क्यो नही है ?"

किन्तु कैप्टन साहब उसी प्रकार हँस-हँसकर, उछल-उछलकर पढाते और पूछते रहे, "क्यो, समझ रहे हो न, सुशील ?" और सुशील हर बार एक मोटी-सी गाली देकर कहता, "यस सर।"

घटा खत्म हुआ तो उन्होंने सुशील के कन्धे पर हाथ रखकर प्यार से कहा, "जरा मेरे साथ तो आना, सुशील, काम है।"

सुशील ने एक मोटी-सी गाली देकर हिन्दुस्तानी मे कहा, "बाबा, अब तो पीछा छोडो।"

मैंने केप्रन साहब की ओर देखा। उनके होठों पर वही बच्चों की-सी मधुर मुस्कान खेल रही थी। कुछ दूर सुशील को ले जाकर उन्होंने उसके कंधे थपथपाते हुए कहा, "अब जितना जी चाहे गालियाँ दे लो, मेरे बच्चे!"

सुशील धक्-सा रह गया, "सर, आपको गलतफहमी हो गई है सर सर मैं मैं।"

अब केप्रन साहब हिन्दुस्तानी में बोले, "अरे डरते क्यों हो, मैं कुछ कहूँगा थोड़े ही!"

सुशील का खून जम गया। तो क्या केप्रन साहब हिन्दुस्तानी समझते हैं, आज तक तो उन्हें हिन्दुस्तानी में बातें करते सुना नहीं। रंग उसका उड़ गया, हकलाते हुए उसने कहा, "सर सर आई एम सॉरी, सर मैं क्षमा-याचना करता हूँ, सर! मुझे बहुत अफसोस है, सर!"

केप्रन साहब दो क्षण चुप रहे, फिर धीरे-धीरे वेदनामय स्वर में बोले, "तुम्हें इतना तो खयाल होना ही चाहिए, सुशील, कि तुम सारे हिन्दुस्तान को एक विदेशी की निगाह में गिरा रहे हो। अच्छा जाओ, ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे (मे गॉड ब्लेस यू)।"

दूसरे दिन सुशील के मुँह से यह सब सुनकर श्रद्धा से सिर झुक गया—हे ईश्वर, यह आदमी है या देवता?

किन्तु उनको जब तक खिझा न लें, तंग न कर लें, हमें चैन कब आता था। केप्रन साहब लेक्चर देते जाते और हम परस्पर बातें करने, कोहनी मारने, हाथापाई करने में व्यस्त रहते। वह देखकर भी हर दो मिनट पर किसी न किसी से पूछ लेते, "सुन रहे हो न, सुरेन्द्र? समझ में आ रहा है क्या, रवि?" और हमारा हमेशा एक ही उत्तर होता, "आई एम लिसनिंग, सर (मैं सुन रहा हूँ, सर)!"

इसी प्रकार एक दिन मैं क्लास में एक उपन्यास पढ़ रहा था कि उन्होंने मुझे आवाज दी, "सुरेन्द्र!"

मैंने रटे तोते की तरह उत्तर दिया, "आई एम लिसनिंग सर," तो क्लास खिलखिलाकर हँस पड़ी।

मैं चौंका तो केप्रन साहब खिलखिलाए, "तुम क्या सुन रहे थे, मेरे बेटे, मैं तो तीन चार मिनट से चुप, तुम्हारी ओर देख रहा था।"

और वह मेरी ओर आये। मैं धक्-सा रह गया—हे ईश्वर, अब क्या

होगा, मेरे पास तो किताब भी नहीं, और कल ही उन्होंने चेतावनी दी थी मुझे कि पुस्तक न लाने पर क्लास से बाहर निकाल दिए जाओगे। उन्होंने देखा, देखकर वह एक क्षण चुप खड़े रहे और फिर जो कुछ सुना, सुनकर शर्म और श्रद्धा से सिर झुक गया, "तुम्हें पुस्तक लाने में तकलीफ़ होती है, सुरेन्द्र, तो चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे लिए पुस्तक ले आया करूंगा। लो, तुम मेरी पुस्तक ले लो," उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक देते हुए कहा।

हर मास के प्रथम सप्ताह की प्रतीक्षा हम बड़ी उत्सुकता से करते थे, क्योंकि फ़ीस देने के बहाने कम-से-कम तीन-चार दिन लगातार हम कॉफ़ी हाऊस चले जाते और उनका घंटा समाप्त होने के दो-चार मिनट पहले आकर उनसे कहते, "आई वाज़ पेइंग माई फ़ीस सर (मैं अपनी फ़ीस दे रहा था सर)।"

हमें इस बात का डर कभी नहीं होता था कि केप्रन साहब पूछ न लें कि भई, तुम तो कल भी, परसों भी और तरसों भी फ़ीस ही देने गये थे, क्योंकि केप्रन साहब को यह सब याद रहे तब न! किन्तु एक दिन क्लास खत्म होने पर मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्यार से उन्होंने पूछा, "तुम महीने में कितनी बार फ़ीस देते हो, बेटे?"

मैं सकपका गया, "सर. सर।"

वह खिलखिलाए, "तुम लोग क्या समझते हो कि मुझे कुछ पता नहीं चलता? किन्तु तुम लोग," उनका स्वर वेदना से भर गया, "झूठ बोलकर अपने को स्वयं की निगाह में क्यों गिराते हो?"

उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया और फिर वह आगे बढ़ गए। मैं अवाक् उनकी ओर देखता रह गया।

हर शनिवार को मेरा ट्यूटोरियल होता था और हर शुक्रवार को केप्रन साहब याद दिलाते, "कल तुम्हारा ट्यूटोरियल है सुरेन्द्र।"

मैं हर बार सिर हिला देता, "यस, सर!" किन्तु हर बार मैं उनके ट्यूटोरियल में न जाता। मुझे याद है, प्रथम वर्ष में मैं वर्ष-भर में दो, द्वितीय वर्ष में एक और तृतीय वर्ष में तीन ट्यूटोरियल में गया था।

यह नहीं कि केप्रन साहब को याद नहीं रहता था—दूर से ही वह आवाज़ लगाते, "चलो, आज तुम्हारा ट्यूटोरियल है न!"

सुनकर भी हम अनसुना कर जाते, किन्तु आसानी से छोड़ने वाले केप्रन साहब भी न थे। उछलते-कूदते लम्बे लम्बे डग भरते वह आते और कन्धे

पर हाथ रखकर कहते, "तुम क्या इस समय खाली हो, बेटे ? (आर यू फ्री माई सन ?)"

मैं सिर खुजलाने लगता, "यस सर, लेकिन कोई मुझसे मिलने आ रहा है।" अथवा "सर, आज मेरी तबीयत ठीक नहीं।"

वह सब समझते और खिलखिलाकर हँस पड़ते, 'तुम अव्वल नम्बर के बदमाश हो, सुरेन्द्र, परले दरजे के कामचोर !"

किन्तु इस पर जब कभी उन्हें क्रोध आता तब वह काँपने लगते, "यह हँसने की नहीं, रोने की बात है। तुम लोगों को अपना भला सोचने की अक्ल आएगी कि नहीं ?"

हम सिर झुकाए चुप सुनते रहते और जब वह बोलते बोलते थक जाते, तब धीमे से स्वर में पश्चात्ताप भरकर कहते, "मुझे इसका खेद है, सर !"

सुनकर हर बार वह संतोष की साँस लेते कि सचमुच बेचारे को कितना अफसोस है और अब वह कभी ऐसा नहीं करेगा। और वह मनाने लगते, "मैं तुम्हारे ही भले के लिए तो कहता हूँ, मेरे बच्चे !"

किन्तु हम कोई मामूली आदमी तो थे नहीं कि अपने परम प्रिय सिद्धान्तों का परित्याग इतनी आसानी से कर देते। कभी दूसरे-तीसरे महीने उनके हाथ में ट्यूटोरियल की कापी पकड़ा देते तो वह जाने क्यों कृतज्ञता से भर जाते, "थैंक यू वेरी मच (बहुत-बहुत धन्यवाद), थैंक यू वेरी मच !" मानो हम उन पर कोई अहसान कर रहे हों।

तीन वर्ष पलक झपकते कैसे बीत गए, हमें पता भी नहीं चला। कॉलिज में वह हमारा अन्तिम दिन था। हमारे दिल जैसे बैठते जा रहे थे—अब कभी हम वैसे ठहाके नहीं लगा सकेंगे, एक दूसरे की चाक के टुकड़े नहीं मार सकेंगे, हायातोबा नहीं कर सकेंगे, केप्रन साहब की मीठी न तो सरल हँसी सुन सकेंगे और न उनके स्निग्ध स्नेह का अनुभव कर सकेंगे। अब कोई खिलखिलाकर प्यार से घूँसा लगाकर यह नहीं कहेगा, "ओ यू नाटी बॉय !" और अब कोई 'सॉरी' भर कह देने से हमारे बड़े-से बड़े अपराध को क्षमा नहीं कर देगा।

केप्रन साहब आए तो मुस्कराए—उस माँ की तरह जो अपने बेटे से हमेशा के लिए विदा ले रही हो—"हूँ, तो आज तुम्हारा अन्तिम दिन है !"

हम कुछ बोल नहीं सके, जैसे गले में कुछ अटक-सा गया हो। वातावरण में एक अजीब सी उदासी छाई थी, जिसे केप्रन साहब ठहाके लगाकर

हटाने की जितनी ही कोशिश करते, वह उतनी ही घनी होती जाती। आखिर हारकर बड़ी कोशिश करके वह बोले, "अरे बोलो भी, तुम तो जैसे बोलना ही भूल गए हो।"

हम चुप रहे तो केप्रन साहब चाक का एक टुकड़ा मुझे देकर बोले, 'क्यों, आज किसी को चाक नहीं मारोगे, सुरेन्द्र ?"

मैंने देखा, केप्रन साहब रुलाई रोकने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। मेरी आँखें भर आई—तो क्या फिर केप्रन साहब को दुबारा कभी नहीं देख सकेंगे ?

घंटा खत्म हुआ तो उन्होंने हाथ उठाकर रुँधे गले से कहा, "गॉड ब्लेस यू, माई चिल्डरन (ईश्वर, तुम्हें सुखी रखे, मेरे बच्चो !)" और बिना किसी की ओर देखे वे अपने कमरे की ओर भागे।

मैं उनके कमरे में गया तो देखा, केप्रन साहब न जाने शून्य में क्या देख रहे थे और उनकी आँखें छलछला रही थीं। मुझे देखकर जल्दी से आँखें पोंछकर मेरे दोनों हाथ दबाकर वह बोले, "तुम क्लास में रो क्यों रहे थे, सुरेन्द्र ?" मैंने रुलाई रोकने के लिए होंठ भींच लिए।

उनका कंठ रुँध-सा गया।

कुछ क्षण पश्चात् किसी तरह मैंने कहा, "अच्छा तो, सर ," तो उन्होंने मेरे कंधे थपथपाए, "सुखी रहो, मेरे बच्चे !" और होंठों से निकलती चीख को किसी प्रकार रोककर वह दूसरे कमरे की ओर भागे।

उस दिन के बाद केप्रन साहब को देखना सचमुच ही नसीब नहीं हुआ। सुना कि वह इंगलैंड वापस चले गए—हमेशा के लिए। उनकी याद दिल में एक हूक-सी पैदा करती है, किन्तु जीवन के प्रति आस्था, मानवता के प्रति अटूट विश्वास और गहनतम अंधकार को चीरती हुई जो रोशनी केप्रन साहब के रूप में हमने देखी थी वह हमेशा जलती रहेगी।

५

अपना-पराया

उस दिन सुबह से ही थानेदार साहब झुँझला रहे थे, "कमबख्त यह आजादी क्या आई है, मार पीट, दंगा फसाद, चोरी-डकैती तो जैसे आम बात हो गई है। यह भी कोई नौकरी है, आखिर! कहने को तो सूरत देखकर सारा शहर कांप उठे, पर न दिन को चैन, न रात को शान्ति, लानत है इस हुकूमत पर!"

उन्होंने पाँव मेज पर फैला दिए, "छोटेलाल!"

छोटेलाल सिपाही आया तो उबासी लेते हुए वह बोले, "जरा एक कप चाय तो पिलाना, सारा जिस्म दर्द-सा कर रहा है।"

छोटेलाल बड़बड़ाने लगा, "चाय तो पिलाना, हुँह! एक कौड़ी तो कभी जेब से निकलती नहीं.. जाती बार छाती पर ही तो बाँधकर ले जायगा जैसे!"

थानेदार साहब ने डपटकर पूछा, "क्या बकता है बे?"

छोटेलाल सकपका गया, "कुछ नहीं हुजूर, वह सामने चाय वाला है न, वह साला बहुत बदमाश है। चाय का प्याला बाद में देता है, पैसे पहले माँगता है और मुँह ऐसे बनाता है जैसे हम उसकी दुकान में सेंध ही तो लगाने गए हों!"

थानेदार साहब के रोम रोम में आग सी लग गई, "हूँ, तो अब चींटी को भी पर लगने लगे! शाम को याद दिलाना, बदमाश के सारे खानदान का बड़े घर की हवा न खिलाई तो ," और होंठ चबाते हुए वह मूँछें ऐंठने लगे।

छोटेलाल चाय ले आया। सिगरेट का कश खींचकर थानेदार साहब ने प्याला होंठों से लगाया ही था कि किसी के चीखने-चिल्लाने की आवाज सुनाई दी। कठोर स्वर में वह बोले, "यह शोर किस बात का है, छोटेलाल?"

छोटेलाल बाहर होकर आया तो बोला, "हुजूर, मुहल्ला नाईवाला में दिनदहाड़े चोरी हो गई है। चोर घर का सारा जेवर ले गए है।"

"तो साने से कहो, रपट लिखाए, कानो के परदे क्यो फाड रहा है ? कम्बख्त हर वक्त एक नई मुसीबत पीछे लगी ही रहती है।"

छोटेलाल बाहर चला गया तो थानेदार साहब खर्राटे भरने लगे। भला पुलिस वाले भी कहाँ तक अपने को परेशान करें, यह कम्बख्त जनता पहले तो घोडे बेचकर सोती है, बाद मे पुलिस की नाक मे दम करती है—जाहिल कही की ! इसीलिए अभी उस दिन जब एक साहब चोरी की रिपोर्ट करने आये और शिकायत करने लगे कि थानेदार साहब, आपने जिन सिपाहियो की गश्त की ड्यूटी लगा रखी है, वे जाने कहाँ रहते हैं, उनकी सूरत तो कभी भूले भटके ही दिखाई देती है, तब थानेदार साहब ने भिडककर कहा था, "आखिर आप किस मर्ज की दवा हैं ? आप लोग अपनी चीजो की हिफाजत खुद नहीं कर सकते तो पच्चासी रुपये के सिपाही को ऐसी क्या मुसीबत पड़ी है जो ? वह भी आदमी है आखिर, चौबीस घटे पेटी कसे तो नही रह सकता। आखिर आप लोगों की भी तो कोई जिम्मेदारी होती है।"

इस घटना को याद करके थानेदार साहब ने नाक सिकोडी । फिर साने साने वह सहसा चौंके, "छोटेलाल, कल वाला वह क़ैदी राह पर आया या नहीं ?"

"हुजूर, मार-मारकर भुरता बना दिया उसका, पर वह दुहाई देता है कि उसने कभी चोरबाजारी नही की।" फिर स्वर को जरा धीमा करके वह बोला, "हुजूर, मुझे भी वह बेगुनाह ही लगता है।"

थानेदार साहब ने भिडककर कहा, "क्या बकता है ?"

छोटेलाल डरकर पीछे हट गया तो थानेदार साहब का पारा और चढा, "तुम सब नमकहराम हो गए हो जरा-सी बात नहीं मनवा सकते और दम भरते हो पुलिस की नौकरी करने का !"

छोटेलाल बाहर जाकर बडबडाने लगा, "मक्कार कहीं का, बेगुनाहो का जीना मुश्किल कर रखा है और असली अपराधियों को सलाम करता है। करे भी क्यों न, वे तु दियल सेठ हर वक्त इसकी जेब जो गरम रखते है ! घर, अभी कल की तो बात है। हरामी को पता था कि सेठ किरोडीमल खुलेआम शराब पी रहा है, पर उसे तो शराबबन्दी होने पर भी नही पकडा और गरीबो को कैसी लाल-लाल आँखें दिखाता है, जैसे शराफत का पुतला यही तो है।"

सहसा हड़बड़ाए हुए श्यामलाल सिपाही ने आकर कहा, "हुजूर, चौक मे बहुत दगा फसाद हो रहा है।"

थानेदार साहब ने चीखकर कहा, "तुम लोग कभी चैन भी लेने दोगे या ?"

"हुजूर, मामला सगीन हो गया है। आप वहाँ चले जायँ तो ।"

"बकवास बन्द करो तुम लोग जरा-से हालात पर काबू नही पा सकते ? जाओ, दस-बारह सिपाही ले जाओ। सुना या नही ?"

बदहवास-सा श्यामलाल बाहर भागा तो थानेदार साहब बड़बड़ाए, "जी चाहता है एक एक को गोली मार दूँ कोई अपनी ड्यूटी तो समझता ही नही।"

जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे तो थानेदार साहब के होठों पर एक मुस्कान खेल गई। अन्दर की जेब मे हाथ डालकर उन्होने बटुए से गड्डी निकालकर नोट गिने, और फिर सन्तोष की साँस लेकर बटुए मे वापस रख दिए—हाँ, रुपये सुरक्षित थे, दो सौ रुपये ! आज ही सुबह की बात है। थानेदार साहब थाने मे आकर बैठे ही थे कि टेलीफोन की घटी बज उठी। चोगा उठाते ही सेठ लखमामल की आवाज सुनाई दी, "जल्दी स आइए, थानेदार साहब, रामनाथ गाडी रोककर बैठा है, जाने नही देता।"

इस पर थानेदार साहब हँसे, "सेठजी, आपने भी तो अफीम के गुप्त व्यापार मे लाखो कमाये हैं, आखिर कभी तो यह नौबत आनी ही थी।"

लखमामल गिडगिडाये, "थानेदार साहब, आप आइए तो, आखिर हमे भी तो अपनी खिदमत का मौका दीजिए। अरे, हम आप कोई अलग अलग थोडे ही हैं, यार-दोस्त काम नही आएँगे तो क्या ग़ैर आएँगे ?" और जब थानेदार साहब पहुँचे तो लखमामल ने खीसें निपोरकर कहा "धन्य भाग, आइए थानेदार साहब, आइए !"

रामनाथ के पास पहुँचकर थानेदार साहब ने धीरे से कहा, "शाबाश रामनाथ, आसामी मालदार है !"

सेठजी हाथ जोडे खडे रहे तो उनके कान मे वह बोले, "कम्बख्त यह रामनाथ पूरा बाप है, पचास से कम मे नही मानेगा। और हाँ, मेरे दो सौ !"

सुनते ही सेठजी के चेहरे पर रौनक़ आ गई। ढाई सौ रुपये उनके हाथ मे देते हुए बोले, "अरे, आप भी क्या बात करते हैं, थानेदार साहब, कभी-

कभी तो आप सेवा का मौक़ा देते हैं।"

रामनाथ की जेब में पचास रुपये रखते हुए थानेदार साहब फुसफुसाए, "इस बार इतना ही सही, रामनाथ! अगली बार साले का घर खाली कर देंगे।"

रामनाथ से थानेदार साहब विशेष रूप से प्रसन्न थे। उसकी पीठ ठोंकते हुए बोले, "इसी तरह मुस्तैदी से काम करते रहोगे तो बहुत जल्दी तरक्की दिलवा दूंगा।"

रामनाथ ने मन में उन्हें एक मोटी-सी गाली दी—कम्बख्त मुफ्त में इतने रुपये ले गया। पर इसके बिना कोई चारा भी तो नहीं है—थानेदार साहब को वह इस तरह की साजिशों में शामिल न करे तो भला कितने दिनों वह बाहर रह सकता है?

मेज़ पर पाँव फैलाए थानेदार साहब की जाने कब आँख लग गई। झटके से उनकी आँख खुली तो सुना, श्यामलाल कह रहा था, "गज़ब हो गया, हुजूर, एक आदमी का खून हो गया।"

एक झटका-सा खाकर थानेदार साहब ने टाँगें नीचे कर लीं, "क्या कहा?"

"हुजूर, लोग कहते हैं, वह बेचारा दंगाइयों में सुलह कराने गया था कि किसी ने उसके पेट में चाकू भोंक दिया।"

थानेदार साहब ने मुंह बिचकाया, "हूं, सुलह कराने गया था, जैसे गांधीजी का असली चेला वही तो हो। हर आदमी लीडर बनना चाहता है। अच्छा इनाम मिला साले को।" फिर जैसे कुछ याद आने पर वह बोले, "लाश कहाँ है?"

"आ रही है।"

कुछ देर बाद श्यामलाल ने आकर कहा, "लाश आ गई है, हुजूर!"

वह झुंझलाए, "तो मैं क्या करूं, रखो अन्दर वाले कमरे में। और कुछ नहीं तो शहीदों की लिस्ट में तो नाम आ गया साले का।"

सब लोगों ने आश्चर्य से थानेदार साहब की ओर देखा—कैसा दिल है कम्बख्त का, कितनी बेफिक्री से बैठा है!

एक क्षण बाद थानेदार साहब बोले, "अरे, सारी उमर बीत गई यह सब देखते हुए, किस्मत में लिखी मौत को कोई टाल थोड़े ही सकता है?"

वातावरण में एक अजीब-सी गम्भीरता आ गई थी। आखिर सिगरेट का अन्तिम कश खींचकर थानेदार साहब उठ खड़े हुए, "चलो लाश को देख आएँ।" मानो कोई तमाशा देखने जा रहे हों।

सब लोग उस कमरे में पहुँचे। लाश मुँह तक कपड़े से ढकी थी। सारा कपड़ा खून से लाल हो रहा था। जमीन पर जगह-जगह खून के धब्बे गिरे हुए थे।

थानेदार साहब एक क्षण खड़े रहे, मृत्यु की भयानकता ने उन्हें भी जैसे आतंकित कर दिया हो। फिर ऐसे बोले जैसे कुछ हुआ ही न हो, "मुँह से कपड़ा तो हटाना!"

रामनाथ ने कपड़ा हटाया तो थानेदार साहब ऐसे लड़खड़ाए, जैसे बिजली का तार छू गया हो। आँखें उनकी पथरा-सी गईं, पागल से दीवार का सहारा लिये वह देखते रहे—देखते रहे। सब लोग हतबुद्धि-से उनकी ओर देखने लगे। कुछ पूछने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।

आखिर भर्राए स्वर में थानेदार साहब ने कहा, "अरे, कोई भागकर डॉक्टर को बुलाओ।"

सबके होंठ जैसे किसी ने सी दिए हों। आखिर श्यामलाल ने हिम्मत करके कहा, "हुजूर, वह मर चुका है।"

थानेदार साहब के मुँह से जोर की एक चीख निकली, "मेरा बेटा!"

सुनकर जैसे सबको लकवा मार गया। थानेदार साहब का इकलौता बेटा अभी कल इंगलैंड से डॉक्टरी पास करके लौटा था।

थानेदार साहब दहाड़ें मारते हुए बोले, "हाय मेरे बेटे, किस जालिम ने तेरा खून कर दिया!"

सबकी साँस जैसे रुक-सी गई, एक अज्ञात भय से सबके चेहरे पीले पड़ गए—हे भगवान्, अब क्या होगा?

आखिर कोई कहे भी तो क्या, तसल्ली दे भी तो कैसे? सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। श्यामलाल ने ही फिर हिम्मत की। थूक निगलकर, हलक गीला करके काँपते स्वर में उसने कुछ कहना चाहा, "हुजूर", कि शब्द गले में ही अटक गए।

थानेदार साहब ने आँसुओं से भीगा चेहरा ऊपर उठाया, एक क्षण देखते रहे, फिर उठकर जोर का तमाचा श्यामलाल के मुँह पर मारा, "चुप

एड कुत्ते ।"

श्यामलाल इस अप्रत्याशित प्रहार के लिए तैयार नहीं था। औंधे मुँह धरती पर गिर पड़ा तो उसे ज़ोर की एक ठोकर लगा दाँत पीसकर वह बोले, "मुफ्त का खाते हो और खर्राटे भरते हो, शहर में चाहे कहर ढह रहा हो! पुलिस की नौकरी है या कोई मज़ाक? एक-एक को फाँसी पर न चढ़वा दिया तो मेरा नाम थानेदार हुकूमतराय नहीं!.. नमकहराम कहीं के!"

७ .

ज़िन्दगी मुस्कराई

उस दिन नलिन कुछ अधिक थक गया था। निश्चेष्ट-सा होकर वह ड्राइंग-रूम में सोफे पर लेटकर सोने का प्रयत्न कर ही रहा था कि डाकिए की आवाज सुनाई दी, "चिट्ठी, साहब।"

वह उठा। लिफाफा हाथ में लेते ही उसमें से निकलती भीनी सुगन्ध ने उसमें नव-स्फूर्ति भर दी। पत्र सरिता का था, लिखा था

"नलिन डियर,

मैंने तुम्हें इतना निष्ठुर नहीं समझा था कि उस दिन की बात का इतना बुरा मानकर तुम उन नाता रिश्तों और अतीत के मादक सपनों को इतनी बेदर्दी से तोड दोगे। प्यार के साथ साथ तुमने मेरा शरीर भी चाहा था, जिसे देने से मेरे इन्कार करने पर तुम इस कदर रूठ गए कि तुमने प्यार से भी नाता तोड लिया। तुम पुरुष हो, भूल सकते हो, पर मैं तो नारी हूँ, प्यार ही जिसका जीवन है। मैं तुम्हें किसी भी मूल्य पर खो नहीं सकती, नलिन! तुम्हारे बिना मेरा जीवन रेगिस्तान-सा शुष्क पडा रहेगा। मैं पूर्णतया तुम्हारी हूँ। कल तीन बजे रीगल में मिलना—'देवदास' फिल्म देखेंगे।

तुम्हारी अपनी,
सरिता।"

पत्र पढकर नलिन मुस्कराया, वासना की एक रंगीन लहर ने उसके नेत्रों में गुलाबी डोरे डाल दिए—आखिर अभिमानिनी को झुकना पडा ही! हुँह, कितनी आदर्शवादिनी बनती थी!

पत्र को मुट्ठी में भींचते हुए उसने मुँह बिचकाया। इस प्रकार के बीसियों पत्र—करुणा सिक्त, व्यथापूर्ण, शिकायत भरे— उसकी मेज के ड्राअर में पडे थे। वह आदी हो गया था ऐसी बातें सुनने और पढने का।

कल की रंगीन शाम की मादक कल्पना में नलिन की आँखें बन्द हो गईं। और तभी याद आई उसे अखिल की। याद आते ही वह मुस्करा उठा। कल की ही तो बात है—शाम वह कुछ ज्यादा पी गया था, इस कारण झूमता

लड़खड़ाता, गिरता वह घर आ रहा था कि उसके कन्धे पर हाथ रखकर किसी ने प्यार से कहा, "हैलो नलिन !"

सुनकर नलिन चौंका। इतने प्यार से तो उसे आज तक किसी ने नहीं बुलाया था। उसने मुड़कर देखा तो अखिल खड़ा था—उसके बचपन का परम मित्र ! उसने बाँह फैला दी, "अरे, अखिल, तू ?"

लेकिन अखिल चौंककर पीछे हट गया, "तू . तू पीने लगा है, नलिन !"

नलिन फिर आगे बढ़ा, "नहीं यार थोड़ी-सी तो पी है।"

अखिल दो कदम और पीछे हटा, "तू तू पीने लगा है नलिन ! तू, जो आदर्शवाद की इतनी बड़ी-बड़ी बातें किया करता था ! तो मैंने जो सुना है वह सच है क्या कि तू वेश्याओं तक के घर जाता है !"

नलिन हँस पड़ा। नशे में झूमकर बोला, "जिन्दगी का मजा लूटता हूँ, यार ! तू भी चलेगा ? एक बार चलकर देख तो सही !"

अखिल की आँखें विस्फारित हो गईं, जोर से नलिन का हाथ झटककर वह तिरस्कारपूर्वक बोला, "छि नलिन, तुम इतना गिर सकते हो, यह मैं सोच तक नहीं सकता था !"

अखिल के स्वर में जो अवहेलना थी, अपमान था, उससे नलिन सहसा जल उठा, नेत्रों में ज्वाला लिये वह गरजकर बोला, "अच्छा-अच्छा, अपने उपदेश अपने पास ही रहने दो।"

अखिल डरकर दो कदम और पीछे हटा। शराबी से किसे डर नहीं लगता, खासकर जब वह क्रोध की चरम सीमा पर हो !

लेकिन नलिन सहसा शांत होकर बोला, "देख, अगर जिन्दगी की रंगीनी देखना चाहता है तो मेरे साथ चल, वरना अपनी राह ले, तेरे उपदेश सुनने के मूड में नहीं हूँ। उपदेश बहुत सुन चुका हूँ मैं !"

अखिल डरकर जल्दी से अस्फुट स्वर में बोला, "अच्छा, तो नलिन !" और जब यह कहकर अखिल चलता बना तब नलिन मुस्कराया—कमबख्त बुज़दिल ही नहीं, मूर्ख भी है !

कल शाम अखिल से हुई इस मुलाकात के बारे में सोचकर नलिन के दिल में एक हूक-सी उठी। वह सोचने लगा—सारी दुनियाँ मुझसे डरती है। डरे भी क्यों नहीं ? एक शराबी, आवारा, चरित्रहीन, वेश्यागामी को क्या दुनियाँ पलकों पर बिठाएगा ? सारी दुनिया में मेरा कोई मित्र नहीं है, मैं

जानता हूँ कि मेरे मरने पर मेरे लिए किसी की आँखों मे दो आँसू भी नहीं आयेंगे। कोई मुझसे मित्रता करे भी तो क्यो, किसी को अपनी माँ-बहन की इज्जत प्यारी नहीं है क्या ?

आज इतने दिनो बाद नलिन की आँखें भर आई। उसके लटखड़ाते कदमों को सहारा देने को कोई भी न था, कोई भी ऐसा न था जिसे वह अपना कह सके।

कल शाम अखिल के सम्बोधन मे इतना प्यार, इतना स्नेह पाकर वह रोमांचित हो गया था। बहुत दिन बाद उसके होठो पर मुस्कान आई थी। उसे लगा था कि वह दुनियाँ मे अकेला नहीं है, अभी उसका अखिल जो जिन्दा है। लेकिन अखिल भी घबराकर उसके पास से हट गया था। नलिन का अन्त करण जैसे चीत्कार कर उठा। उसे लगा, जैसे उसके अन्दर कुछ टूट-सा गया है, मर सा गया है, जैसे अन्दर-ही-अन्दर खत्म होता जा रहा है वह, उसका जीवन जैसे शून्यता का पर्यायवाची बन गया है।

अतीत के और भी चित्र नलिन की आँखो के सामने आने लगे। अखिल ने सच कहा था, कभी वह बड़ा आदर्शवादी था। कल्पना-लोक मे विचरण करते समय, इस धरती के कटु-यथार्थ को भूलकर आदर्शवाद के सहारे सपनो का महल बनाते समय वह स्वय को भूल जाता था। न जाने कौन-सा आकर्षण था उसमे कि वह लड़कियो मे जल्दी ही लोकप्रिय हो जाता था। मुहल्ले की हर लड़की—सब ऐसा ही कहते थे—उसे प्यार करती थी। कारण—शायद, जैसा कि हर किसी ने उससे कहा था—यह था कि उस-जैसी लड़कियो को मोहने वाली बातें बहुत कम युवक कर सकते थे। और फिर देखने मे भी वह कुछ बुरा नहीं था।

बातें वह लड़कियो से कर लेता था, किन्तु प्रोत्साहन उसने कभी किसी को नहीं दिया था। एक तो अपनी विधवा माँ की इकलौती सतान होने के कारण वह माँ को उसके बुढ़ापे मे कोई ठेस पहुँचाना नहीं चाहता था। दूसरे मुहल्ले की एक लड़की मनीता से वह इतना प्यार करता था कि किसी दूसरी लड़की के साथ रोमास की कल्पना तक नहीं कर सकता था। आदर्शवाद का एक घेरा उसने अपने आस पास बना रखा था और जहाँ तक भी हो वह उसे तोड़ना नहीं चाहता था।

वह शाम उसे कभी नहीं भूलती जब वह नीला से बातें कर रहा था,

हठात् नीला अनुरोध कर बैठी, "कभी मेरे कॉलिज आओ न ।"

वह चौंका, लेकिन दूसरे ही क्षण मुस्कराकर उसने पूछा, "क्यों, अपनी सहेलियों से परिचय कराओगी क्या ?"

"जरूर !" तत्परता के साथ उत्तर मिला ।

वह रुका, सोचकर बोला, "नहीं, कॉलेज नहीं, तुम्हारे घर आऊँगा ।"

इस पर जब नीला ने उत्तर दिया, "नहीं, घर पर ममी नाराज होगी," तब नलिन स्तम्भित रह गया । तो तो नीला मुझे एकांत-मिलन का निमन्त्रण दे रही है ? उसने सोचा और तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, मुझे खेद है, नीला, मैं नहीं आ सकूँगा ।" और उत्तर की प्रतीक्षा के बिना ही वह तेजी से वहाँ से चल दिया । नीला उसे पुकारती ही रह गई ।

लेकिन आज जब उसे अपनी उस दिन की भावुकता की याद आई, तो वह अपने ही ऊपर अट्टहास कर उठा ।

माना कि कभी वह भावुक रहा होगा, पर पागलपन की उस स्थिति को वह अब कब का लाँघ चुका है । दुनियाँ उसके बारे मे क्या सोचती है, इसकी उसे कोई चिन्ता नही । कोरी भावुकता मे पड़कर वह जिन्दगी की रंगीनी को फीका करने को तैयार नहीं ।

और नलिन को एक और घटना याद आई । बात नीला के उस निमन्त्रण को ठुकराने के दूसरे दिन शाम की है । वह बाहर घूमने निकला ही था कि रवि मिल गया, बोला, "शाबाश दोस्त, बड़ा गहरा हाथ मारा है तुमने ! पर, भई, यार-दोस्तो का भी खयाल रखना !"

बात समझ न सकने के कारण नलिन ने पूछा, 'क्या ?"

"अब बनो मत, यार," रवि ने व्यंग्य से कहा, "हम तो तुम्हें बधाई देने आये हैं कि नीला जैसी मानिनी का भी मान तोड़ दिया तुमने !"

वह क्रोध से पागल हो गया, "क्या बकते हो ?"

"अच्छा, भई, हम शेयर नहीं माँगेंगे, नाराज क्यों होते हो ? पर, भई, हो किस्मत के धनी !"

और नलिन परेशान हो गया । यह नहीं कि इस प्रकार के व्यंग्य सुनने का उसका पहला अवसर था, किन्तु दुनियाँ आखिर इतना पीछे क्यों पड़ी रहती है उसके ? लड़कियों मे वह लोकप्रिय हो जाता है तो इसमे उसका क्या अपराध ?

इसके दो रोज़ बाद की बात है, वह किसी मित्र की शादी में जा रहा था कि किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा, "यार, ज़िन्दगी की रंगीनी को लूटने का ठेका तुम्हीं ने ले रखा है क्या ? कभी यार-दोस्तों को भी याद कर लिया करो !"

वह मुड़ा तो सूद ! सुनील भी सूद के साथ ही था, बोला, "लड़कियों की तुम्हें कमी थोड़े ही है, एकाध हमें भी ।"

"ज़बान सम्हालकर बोलो,' नलिन आपे से बाहर हो गया ।

"अरे यार, हमसे उड़ते हो," सूद हँसा, "सारे दिन क्या-क्या करते हो तुम, हम जानते नहीं क्या ?"

"क्या जानते हो तुम ?" क्रोध से नलिन उबल पड़ा ।

सुनील मुस्कराया, "दुनिया को इतना मूर्ख मत समझो नलिन, बहुत देखे हैं तुम्हारे जैसे आदर्शवाद की दुहाई देने वाले ।"

"बको मत !" वह चीखा, तो सूद ने पूछा, "अच्छा बता, उस दिन तेरे साथ ओडियन सिनेमा में कौन थी ?"

नलिन स्तम्भित रह गया, "क्या बकता है तू ? वह तो मेरी कज़िन थी, मेरी मौसेरी बहन । उस दिन कनॉट प्लेस में मिल गई, तो हम पिक्चर देखने चले गए !"

सूद ने एक ठहाका लगाया, "भई, मान गए, हो तुम भी गुरु ! पर इतना हमसे भी सीख लो, कि इस उम्र में हर नवयुवती हर युवक की कज़िन ही कहलाती है, समझे ?"

इसके कुछ रोज़ बाद की बात है, अनीता दीखी तो उसने मुस्कराकर कहा, "हैलो, अनीता !"

लेकिन अनीता ने मानो सुना ही न हो ।

"अनीता !" उसने फिर पुकारा, तो अनीता ने रूखे स्वर में कहा, "जी, फ़रमाइए !"

वह सकपका गया, "कैसे बोल रही हो, अनीता ?"

अत्यन्त निर्मम हो अनीता बोली, "क्यों, बाकी लड़कियों से मन भर गया, जो आज मुझ पर कृपा दृष्टि कर रहे हो ?"

सुनकर नलिन को लगा, जैसे उसे अनीता ने शूल भोंक दिया हो । अवाक्, हतप्रतिभ वह देखता रह गया । तो क्या बात इतनी दूर पहुँच चुकी है ? कहीं

कोशिश करके वह बोला, "तुम भी मेरे बारे मे ऐसा ही सोचती हो ?"

उसी बेदर्दी से उत्तर मिला, "अभिनय तुम शानदार कर लेते हो नलिन, इसकी दाद दिये बिना नहीं रह सकती मैं !"

"मनीता !"

जाते जाते वह बोली, "मुझे कुछ नहीं कहना-सुनना ! मैं तुम्हारी शक्ल तक नहीं देखना चाहती !"

गिरता-लड़खड़ाता वह किसी तरह घर वापस आया, लेकिन जैसे उसके शरीर मे से किसी ने सारा खून निचोड़ लिया हो। सारी दुनियाँ चाहे कुछ भी कहती उसके बारे मे, पर यह सब मनीता ने कहा—मनीता ने, जिसे उसने इतना अपना समझा था, सोचा था कि दुनियाँ चाहे कुछ भी सोचे उसके बारे मे, किन्तु मनीता उसे ग़लत नहीं समझेगी। पर आज उसके सपनों का वह महल जैसे ढह गया हो, धूल मे मिल गया हो। वह सिसकने लगा, उसकी हिचकियाँ बँध गई—ईश्वर, तू किस गुनाह की सज़ा दे रहा है ? हर गुज़रते दिन और ढलती रात के साथ उसे लगता कि जैसे वह स्वयं खत्म होता जा रहा हो। उसे लगता कि जैसे सारी दुनियाँ उसकी ओर अँगुली उठाकर व्यंग कर रही हो।

किसी तरह ज़िंदगी का बोझा वह ढो रहा था कि एक दिन माँ बोली, 'तू मुझे चैन से नहीं मरने देगा, नीलू !"

वह अचकचा गया, "क्यों, क्या हुआ, माँ ?"

माँ बोली, "तू जो आजकल कुल का नाम इतना रोशन कर रहा है, उससे तेरे पुरखों की आत्मा को बड़ी शांति मिल रही होगी !"

"माँ, तुम भी ऐसा ही समझती हो मुझे ?"

पर माँ तो रोने लगी, 'सारी दुनियाँ जिस बात को जानती है नीलू !"

इतने दिन से जिस तूफान को अन्दर-ही-अन्दर छिपाने की चेष्टा कर रहा था नलिन, वह आज सहसा प्रचंड वेग से फूट पड़ा। क्रोध से वह पागल होकर चीखा, "तो सुन लो, माँ, अब तक कुछ नहीं किया था, पर अब सब-कुछ करूँगा। इतनी शोहरत पा ली है तो उसका फ़ायदा क्यों न उठाऊँ ?"

और पागलों की तरह वह उठा और नोटों का बंडल जेब मे डालकर बाहर चल दिया। रात के बारह बजे वह लौटा तो दरवाज़ा बंद देख बड़ी बेदर्दी

से उसे पीटने लगा। माँ ने दरवाजा खोला तो उसके मुँह से निकलती शराब की बदबू से उसकी नाक भन्ना उठी, चीखकर बोली, 'तूने शराब पी है, रे ?"

जिंदगी मे पहली बार माँ से निलज्जता से वह बोला, "हाँ माँ ! पर आज कम पी है, कल और भी पीऊँगा। आज पैसे कम पड गए, और, माँ, वह इतनी खूबसूरत थी कि ।"

और माँ ने अपना सिर पीट लिया, "ईश्वर, इस बुढापे मे यह सब देखना भी किस्मत मे बदा था क्या ?"

नलिन अब वह पुराना नलिन नहीं रह गया था। व्यग्य कर-करके दुनियाँ ने उसे जो रास्ता दिखा दिया था, उसके लिए अब वह सचमुच उसका कृतज्ञ था। जिंदगी मे इतनी रगीनी, इतनी मादकता भी होती है, नलिन ने कभी सोचा तक न था। और आज अपनी उस भावुकता की याद करके नलिन स्वय का मजाक उडाने लगा। धरती के ठोस धरातल पर उतरकर उसने कितना सौन्दर्य देखा है, जी-भर उसका उपभोग भी किया है। खिलती हुई न जाने कितनी कलियाँ उसके जीवन मे आईं और उसने भँवरे की तरह उनका सारा रस चूमकर छोड दिया। यह सोचकर एक विजयी मुस्कान नलिन के होठो पर खेल गई।

इस बीच माँ इस दुनियाँ से नाता तोड गई थी, इस कारण रहा-सहा प्रतिबध भी खत्म हो गया था।

उसने सविता के पत्र को फिर से खोला—भीनी-भीनी सुगध अब तक आ रही थी। प्यार से उसने उस पत्र को सहलाया—यही तो आने वाली कल शाम की रगीनी का सदेश लेकर आया है। मादक सपनो की कल्पना करते-करते न जाने वह कब सो गया। अगले दिन ठीक तीन बजे वह रीगल पहुँचा तो सविता न जाने कब से उसका इतजार कर रही थी। उसे देखकर खुशी से वह जैसे पागल हो गई, "तो तो तुम आ गए, मेरे अच्छे नलिन !"

उत्तर मे वह केवल मुस्कराया। सविता इतनी सुदर उसे कभी नही लगी थी। वासना का उद्दाम वेग जैसे उसके हृदय मे हिलोरें लेने लगा।

"चलो, टिकट मैं खरीद चुकी हूँ," सविता बोली।

"नही, पिक्चर नही देखेंगे, सवि," नलिन ने कहा, 'चलो, मेरे घर चलो। आज इतने दिन बाद मिली हो तो प्यार की दो बातें भी नही करने दोगी ?"

सुनकर सविता लजा गई, अपनी इन्हीं बातों से तो नलिन उसे इतना अच्छा लगता है।

घर पहुँचे तो नलिन ने दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया। सविता ने विरोध किया, "चिटकनी क्यों लगा ली ?"

वह मुस्कराया, "क्यों, प्यार भी नहीं करने दोगी क्या ?"

उसकी घेरती बाहों के पाश से छूटने का प्रयत्न करती हुई वह बोली, 'प्यार जितना जी चाहे करना—इसीलिए तो आई हूँ, पर नलिन, अपनी शारीरिक भूख पर विजय पाने की कोशिश नहीं करोगे क्या, जो अन्दर-ही-अन्दर तुम्हें खाए जा रही है।"

वासना की रंगीन लहर के वेग में वह आंदोलित हो उठा, "तुम्हारी इन बातों में आकर मैं मादक संसार से वापस नहीं आने का, सवि।"

"बनो मत, नलिन !" सविता बोली, "मैं जानती हूँ तुम अपनी जिंदगी से खुश नहीं हो। एक शून्यता तुम्हें खाए जा रही है, उदासी का कुहरा तुम्हें घेरता जा रहा है और इसको भुलाने के लिए तुम !"

वह सकपका गया, "क्या कह रही हो तुम, मैं अपनी जिन्दगी से खुश नहीं हूँ ?" और उसने एक ठहाका लगाया, "वाह, तो मेरे दिल की बात मुझसे ज्यादा तुम जानती हो !"

लेकिन सविता ने मीठी झिड़की दी, "चुप रहो, नलिन ! मैं खूब जानती हूँ कि यह मद करने के पश्चात् तुम्हें अपने से कितनी ग्लानि होती है। जिन्दगी की मजबूरियों के सामने इस तरह एक बुज़दिल की तरह घुटने टेककर अपनी इस पैशाचिकता, अपने इस पतन को अपनी विजय समझते हो !"

सुनकर वह चीखा, "क्या कहा, मैं पिशाच हूँ, पतित हूँ—और तुम देवी हो ?"

लेकिन सविता मुस्कराई, "अब भी बनते हो, नलिन ! मेरे पतित कहने से तुम्हें जो क्रोध आया, तुम्हारे दिल में जो दर्द हुआ, वह इसी कारण न कि तुम्हारी भावना अभी मरी नहीं ! इस प्रकार का दर्द तो उसे होता है जो अपराध करने को मजबूर हुआ हो।"

सुनकर नलिन अवाक् रह गया। सविता उसके दिल की गहराइयों तक कैसे उतर गई ? उसे लगा कि जैसे सविता ने उसकी दुखती रग पर हाथ रख दिया हो। दिल में कुछ दर्द-सा होने लगा। पर एक क़हक़हा उसने फिर

लगाया, "भाषण तुम शानदार दे लेती हो, सवि ! पर सुनो, न भावुकता में परिपूर्ण प्रलाप को और न ही आदर्शवाद के इन खोखले तर्कों को सुनने के मूड में हूँ।" और उसने आगे बढ़कर सविता को अपनी बाँहों में भर लिया।

सविता ने इस बार उसके बन्धन से छूटने की कोशिश नहीं की, "जानते हो, नलिन, तुम्हें याद करके कितना रोई हूँ मैं, लेकिन तुम मुझे इतना पराया समझते हो कि अपना दुख-दर्द भी नहीं कह सकते ? सुख को न सही, पर दुःख को तो बाटने से ही जिंदगी का बोझ हलका होता है।"

नलिन की बाँहें ढीली हो गई। सहसा वह कुछ कह नहीं सका, एकटक उसकी ओर देखता रह गया। आत्मीयता के इस स्वर को सुनने के लिए ही तो उसके कान कब से बेकरार थे। उसके भीतर आँसुओं का एक वेग-सा उमड़ने लगा, पर दूसरे ही क्षण वह सम्हल गया, व्यंग्य से बोला, "ओह, मेरा सौभाग्य कि आप जैसे शुभचिंतकों के दर्शन हो गए, जो मेरे सुख के नहीं, दुःख के भागीदार बनने को बेकरार हैं।"

पर सविता ने डाँटकर कहा, "चुप रहो, नलिन ! तुम अपने को धोखा दे सकते हो, मुझे नहीं। मैं तुम्हें पतन के इस गड्ढे में गिरने नहीं दूँगी।"

सुनकर नलिन रोमांचित हो गया। आज तक सारी दुनियाँ ने उसका तिरस्कार और अपमान किया था, उसे धिक्कारा था, पर इस प्रकार प्यार के इतने अधिकार से उसे डाँटा किसी ने नहीं था। सविता के रूप में उसे जैसे आशा की नई किरण दीखी हो, मानो उसकी टूटती रगों में कोई नव-प्राण फूँक रहा हो। पर दूसरे ही क्षण अपने अतीत के बारे में सोचकर उसका दिल जैसे बैठ गया। उमड़ते आँसुओं को किसी प्रकार पीकर वह बोला, "पतन की बात करती हो, सवि, तो तुम्हें धोखे में नहीं रखना चाहता। मैं पतन की उस सीमा तक पहुँच चुका हूँ ।"

बीच ही में उसे रोककर वह बोली, "तो तुम अपनी इस जिन्दगी से खुश नहीं हो न ?"

नलिन पर सविता ने जैसे जादू कर दिया हो, वह सहसा सविता के कंधे पर सिर रखकर फूट-फूटकर रो पड़ा, "अपने इस नारकीय जीवन से मैं तंग आ गया हूँ, सविता ! आत्महत्या करने की मुझमें हिम्मत नहीं है, पर जिन्दगी में इतनी वीरानी आ गई है

कि ।" और उसकी रुलाई ने शेष शब्द उससे छीन लिए।

प्यार से उसके गालों पर चपत मारकर सविता बोली, "क्यों, प्यार नहीं करोगे, नलिन ?"

असीम वेदना से उसका चेहरा पीड़ित हो उठा, "व्यंग्य करती हो, सवि ?"

पर सविता ने उसके गले में अपनी कोमल बाँहों का हार पहनाकर कहा, "जिंदगी के इन तूफानी दिनों में तुम्हें मेरा सहारा चाहिए, नलिन ! और मैं मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकती ।"

उसकी उस पतझड़-सी जिन्दगी में कोई बसन्त के हर्षोल्लास का संदेश लेकर आएगा, यह नलिन ने कभी सोचा तक नहीं था।

"तुम तुम कितनी अच्छी हो, सवि !"

पर दूसरे ही क्षण उसकी बाँहें ढीली हो गईं, "नहीं, मैं अपनी खुशी के लिए तुम्हारा जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, सवि ! मेरी जिन्दगी तो किसी तरह कट हो जायगी, और वैसे भी अब मुझे अपनी जिंदगी से प्यार नहीं रहा।"

"पर मुझे तो अपनी जिन्दगी से प्यार है," वह बोली। "इस लम्बी जीवन-यात्रा को तुम्हारे सहारे बिना कैसे काट सकूँगी मैं ?"

"तुम जानती नहीं, सवि, कि मैं समाज से ठुकराया हुआ एक चरित्र-हीन, शराबी, वेश्यागामी ।"

"मैं बहुत सुन चुकी हूँ नलिन !" उसके होंठों पर अँगुली रखकर वह बोली, "मैं जानती हूँ, तुम मेरे साथ विश्वासघात नहीं करोगे। बोलो, मुझे चिरसंगिनी के रूप में स्वीकार करके .?"

वह फूट-फूटकर रो पड़ा, "तुम कौन हो, सविता ?"

और सविता ने उसे अपनी बाँहों में समेट लिया।

सन्ध्या आज भी और दिनों की तरह आई, पर आज धरती से भीनी-भीनी सुगन्ध निकल रही थी, पक्षियों के कंठ से संगीत की धारा बह रही थी और पतझड़-सा शुष्क जीवन बसन्त की सरसता में परिणत हो गया था, जैसे जिन्दगी फिर से मुस्कराई हो।

८

परतों के आर-पार

उस दिन सुनन्दा मिली, तो एक अजीब लहजे में बोली, "कुछ सुना, भाभी, रेखा भाग गई।"

मैं सकते में आ गई, "क्या कह रही हो तुम, अभी कल ही तो उसकी माँ ने अगले महीने की तीन तारीख को उसकी सगाई पर आने का निमंत्रण दिया है मुझे।"

"अरे, भाभी, यह सगाई ही तो इस सबकी जड़ है," सुनन्दा रहस्यमय स्वर में बोली, "दरअसल रेखा का किसी लड़के से रोमान्स चल रहा था, माँ-बाप वहाँ शादी करने को सहमत नहीं हुए तो उसने कल, दूसरी जगह सगाई होने से पहले ही, उस लड़के के साथ सिविल मैरिज कर ली। हाय राम, कितनी हिम्मत हो गई है आजकल की लड़कियों में, न माँ-बाप की इज्जत का ध्यान, न मर्यादा की चिन्ता, सब घोलकर पी गई हैं जैसे।"

मेरी आँखों के सामने रेखा का चेहरा घूम गया—भोला, मासूम, निश्छल। सुनकर सहसा विश्वास नहीं हुआ—अरे, वह इतनी-सी लड़की इतना बड़ा कदम उठाने का दम भर सकती है? आखिर दो क्षण चुप रहकर पूछा, "लड़का क्या करता है?"

मुँह बिचकाकर सुनन्दा बोली, "भाड़ झोंकता है। अरे, इस तरह के गैर-जिम्मेदार, उच्छृंखल लोगों के किए कोई काम हो सकता है? दिन-भर मजनूँ बने सड़कें नापते हैं, काम क्या करेंगे, खाक।"

किसी तरह साहस बटोरकर मैंने पूछा, "अच्छा तो एक बात बता, सुनन्दा, रेखा क्या इस लड़के से बहुत प्यार करती थी, कब से?" प्रश्न अपने में एकदम बेतुका था, क्योंकि प्यार न होता तो वह लजीली लड़की सारे समाज को चुनौती देने का बल कहाँ से पैदा करती? पर बचपन की रेखाएँ जिसके चेहरे पर आज भी विद्यमान हैं वह रेखा भी किसी के प्यार में इस कदर लुट सकती है, मेरे लिए यह कल्पनातीत था।

वही हुआ जिसकी आशंका थी। सुनन्दा भड़क उठी। प्यार शब्द से उसे

बेहद चिढ़ है। महज भावुकता के अतिरिक्त कुछ नहीं मानती वह इसे। बोली, "भाभी, तुममें यही तो दोष है। जहाँ ज़रा प्यार का नाम भी सुना, बस तुम्हारी सहानुभूति उमड़ पड़ी। अरे, रेणा जैसी लड़कियाँ किसी के प्यार में बावली हो जायें तो वह प्यार न हुआ, खिलवाड़ हो गया। ज़रा किसी से आँख मिली नहीं कि लगे आहें भरने! मुझे तो इधर एक अरसे से उसके लक्षण ठीक नहीं लग रहे थे।"

एक अच्छा श्रोता मिल जाय तो सुनदा का भाषण घंटों खत्म नहीं होता, इसलिए घबराकर उसे बीच ही में टोककर मैंने कहा, "अच्छा चलती हूँ, सुनदा, 'ये' अब तक ऑफिस से आ गए होंगे।"

पड़ौसिन होने के नाते सुनदा को प्यार से मैं ननद कहती हूँ। प्यार भी बहुत करती है मुझे, पर इतने वर्षों के निकट सम्पर्क के बावजूद वह मेरे लिए एक पहेली-सी रही है। उम्र उसकी २७-२८ से कम क्या होगी अब, पर अभी शादी कराने की उसकी कोई योजना दिखाई नहीं देती। उच्चवर्ग की उन लड़कियों की हवा भी उसे नहीं लगी कि सारी उम्र क्वारी रहने पर भी जो पुरुष और नारी के हर अंतरंग सम्बन्ध से खूब परिचित होती हैं। अब तक शादी न करवाने के पीछे किसी असफल प्रेम का इतिहास छिपा हो, ऐसा भी नहीं है। बहुत सोचने पर आखिर एक दिन हिम्मत करके मैंने पूछ ही तो लिया, "एक बात पूछूँ, सुनदा?"

हँसकर वह बोली, "तुम तो, भाभी, ऐसे पूछ रही हो जैसे कोई बहुत रहस्य की बात हो।"

मैंने उसका हाथ ज़ोर से दबाकर कहा, "नाराज़ तो नहीं होगी न?"

प्यार से वह बोली, "पूछो, भाभी, भला तुमसे रूठ सकती हूँ मैं?"

सारी शक्ति संचित करके मैंने कहा, "तुम शादी क्यों नहीं करवाती हो?"

लज्जा से सुनदा का चेहरा आरक्त हो गया, तो उसकी ओर देखने का मुझे साहस नहीं हुआ। दो क्षण कोई नहीं बोला, फिर मेरी अँगुलियों में अँगुलियाँ डालकर वह बोली, "ढंग का लड़का भी तो मिले, भाभी!"

मैं चकित रह गई, पूछा, "अरे! पर मैंने तो सुना था कि तुम खुद ही ब्याह को तैयार नहीं होतीं, कई जगह बात चली, पर तुमने ही ना कर दी।"

लगा कि जैसे उसके गले में कुछ अटक-सा गया हो, "भाभी, सारी ज़िन्दगी का सवाल होता है, आँख मूँदकर कोई कुएँ में कैसे कूदे?

तीन-चार सौ महीना वेतन से आज की दुनियाँ मे निर्वाह कहाँ होता है ! लड़का कम से-कम आठ-नौ सौ तो लेता हो।"

"पर सुनदा !"

"वरना शादी नहीं करूँगी आखिर खानदान की इज्जत भी तो कोई चीज होती है। मुझे तो ऐसा साथी चाहिए जिसके साथ जीवन के शेष वर्ष सुख से बीत जायें। वैसे भी, तुम तो जानती ही हो, संयम शब्द से मुझे बेहद चिढ़ है। प्यार व्यार मे मेरा कोई विश्वास नहीं, एक ढकोसला लगता है मुझे यह सब !"

और कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। जाने इस सुनदा को पुरुष और नारी को पारस्परिक बधन मे बाँधने वाले प्यार के पवित्र सूत्र से इतनी चिढ़ क्यो है। पुरुष और नारी के एक-दूसरे के प्रति अदम्य आकर्षण की भावना ने सुनदा के हृदय मे कभी हिलोरें पैदा नहीं की क्या ? ब्याह को जीवन-नौका खेने का एक साधन मात्र मानती है क्या वह ? पर कारण कुछ भी हो, सुनदा के लिए मेरे मन मे प्यार के साथ श्रद्धा भी रही है। संयम का पूर्ण बहिष्कार इसान की सबसे बड़ी विजय, साक्षात् प्रकृति पर विजय नहीं है क्या ? इसीलिए प्यार के प्रति सुनदा के आक्रोश को भी मैं सह लेती हूँ।

इससे दो दिन बाद की बात है। मुहल्ले की एक लड़की कला की शादी थी। बारात आई तो दूल्हे को देखकर सुनदा ने नाक सिकोड़कर कहा, "दूल्हा है कि अफ्रीका के जगलो से पकड़कर लाया गया हब्शी !"

मैंने देखा, लड़का साँवला जरूर था, पर नयन-नक्श तीखे थे, क़द भी अच्छा-खासा था। खीभकर बोली, "ठीक तो है, और लड़का मे कोई सुर्खाब के पर लगे होते हैं क्या ?"

"बाप रे, हाथी-सा लगता है," मेरी बात पर तनिक भी ध्यान न देते हुए सुनदा बोली, "बस एक लड़का चाहिए, हो चाहे जैसा भी ! और कला को देखो, खुशी छिपाए नहीं छिप रही, जैसे ख़ुद ही तो पसद किया हो। एक अनजाने व्यक्ति के साथ सारी उमर का बधन और वह भी ऐसा जैसे साक्षात् खैर छोड़ो, मुझे क्या। पर सच, भाभी, मुझे तो कला पर तरस आ रहा है !"

मैं चुप रही। सहसा मेरा ध्यान एक ओर आकृष्ट करते हुए वह बोली, "कुछ देखा तुमने ?"

मैंने देखा, सध्या और राजीव जाने एक-दूसरे की ओर कैसी निगाहो से देख रहे थे—पागल-से, खोये-से, दुनियाँ की पैनी दृष्टि से अनजान, एक-दूसरे की आँखो की गहराई मे डूबे हुए।

सुनदा बोली, "तुम देखती रहो, मुहल्ले मे एक नया गुल नहीं खिलाया इन लोगो ने अगर। सैक्स को बहुत अच्छा नाम दे रखा है दुनियाँ ने—प्यार। हुँह।"

मैं हँसी, "अरी, तू भी जब किसी की राह मे पलकें बिछाया करेगी, तब पूछूँगी।"

उपेक्षा से वह भी हँसी, "अब इस जन्म मे तो यह सब होने से रहा, भाभी, अगले की ईश्वर जाने। दुनियाँ प्यार-मुहब्बत की इन सकीर्ण गलियों से बहुत बडी है।"

सुनदा के उत्तर मे एक ऐसा वज़न होता है कि मुझे हमेशा चुप रह जाना पडता है। सच ही तो कहती है यह, यौवन एक उन्माद ही तो है किधर बहा ले जायगा, कुछ कहा नही जा सकता। एक लहर है जो ससार रूपी विशाल समुद्र मे उठती है, और स्वय ही विलीन हो जाती है। एक ऐसा भी दिन आता है जब हम प्यार के आवेश मे किये वायदों का, उन चरम क्षणों मे बुने गए रगीन सपनो के ससार का स्वय ही उपहास करते हैं। आश्चर्य होता है तब सोचकर—सच, हम इतने अपरिपक्व थे क्या? और उस प्यार पर चढा सैक्स का झीना आवरण पहली बार उभरकर हमारी आँखो मे चकाचौंध पैदा कर देता है।

सुनदा बोली, "अच्छा भाभी, चलती हूँ। चारो ओर कृत्रिम साज-सिंगार के सिवाय कुछ दिखाई ही नही देता, जैसे सब लोग अपनी नुमायश दिखाने आए हों, छि!"

"अरी, अब सब तेरी तरह कैसे हो जायें, सुनदा? आखिर यही तो उमर होती है हँसने खेलने की, खाने-पहनने की। इन्सान अपने अरमानो का गला क्यो घोटे आखिर?"

सुनदा झल्लाई, "अब तुम और कुछ कहोगी, तो मैं लड पडूँगी। साज शृगार, प्रदर्शन और उच्छृंखलता ही तो जैसे जिन्दगी का उद्देश्य है।"

इसके कुछ दिन बाद मुहल्ले मे फिर एक तूफ़ान-सा उठा। मुहल्ले की पिछली गली मे रीना और किशोर प्रेम पत्रो का आदान प्रदान कर रहे थे कि रामो बुआ ने देख लिया। उसी क्षण शान्ता मौसी के घर जाकर मुँह

मटकाकर बुआ बोली, "अब तो यह मुहल्ला भले लोगों के रहने योग्य नहीं रहा, बहन ! हम तो अगले ही महीने मकान बदल लेंगे।"

मौसी ने आँखें विस्फारित करके कहा, "क्यों, क्या हो गया, बहन ?"

बुआ ने आँख मटकाकर और हाथ नचाकर बताना शुरू किया, तो मौसी की साँस रुक सी गई, "हाय राम, घोर कलजुग आ गया है, जो हो जाय सो कम!"

यह शुभ-समाचार मुझे सबसे पहले सुनदा ने ही दिया। मैं चुप सुनती रही तो वह बोली, "हर रोज तितलियों की तरह सज-धजकर नये प्रेमियों के साथ मटक मटककर बात करने में खूब पारंगत हो गई है आज की लड़की ! जाने यह लहर कहाँ ले जायगी इसे ? प्यार के नाम पर बहशीपन का ताडव-सा हो रहा है।

मैंने भी कहा, "अब किया भी तो क्या जाय, सुनदा ? पश्चिम के सम्पर्क में आने के बाद दुनियाँ इतनी प्रगतिशील हो गई है कि ।"

सुनदा सहसा खिलखिलाई, "सोचकर हँसी के मारे मेरा तो बुरा हाल हो जाता है—अभी कपड़े पहनने का तो शऊर नहीं और मुहब्बत की दुनियाँ आबाद करने के ख्वाब देखे जा रहे हैं ! अच्छा, भाभी, आखिर किस मर्ज का नाम है प्यार, जिसने सारी दुनियाँ को दीवाना बना दिया है ?"

मैं मुस्कराई, "एक बार इस मर्ज को पालकर देख ले न तू भी !"

सुनदा की हँसी बढ़ती गई, "हाँ सोचती हूँ, जन्म लिया है तो किसी अनुभव से वंचित क्यों रहा जाय? हर प्यार की परिणति विवाह ही में होती है, तो आखिर किसी आँख के अंध और कान के बहरे से शादी ही क्यों न कर ली जाय !"

मैंने तनिक अधिकार से कहा, "हर बात का मजाक मत उड़ाया कर, सुनदा ! जीवन के प्रति इतना नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर जिया नहीं जा सकता।"

वह फिर हँसी, "तो भाभी, सिखा दो न, प्यार कैसे किया जाता है आखिर ?"

मैंने झिड़ककर कहा, "बहुत हँस मत सुनदा, कभी-कभी तुम पर बहुत आश्चर्य होता है। प्यार करना पाप नहीं है। पुरुष और नारी एक दूसरे के पूरक होते हैं। उस नीड़ विहीन पक्षी को देखा है तुमने कभी, जो किसी नीड़ की खोज में सारी रात भटकता रहता है !"

प्यार से मुझे एक घूँसा लगाकर वह बोली, "अपने अपने स्वभाव की

बात होती है, मेरी अच्छी भाभी ! अपने परो पर बन्धन के पत्थर बाँधकर नहीं उड़ना चाहती मैं। मुक्त उड़ान के लिए एक बहुत बड़ी दुनिया चाहिए मुझे, चहारदीवारियों में घिरी इन छोटी सी दुनियाँ में मेरा तो, सच, दम घुट जाय !"

मुझे सुनदा पर कभी कभी बहुत तरस आता है। अंधकार की गलियों में भटकने वाला रोशनी की कीमत कैसे आँक सकता है ! पुरुष और नारी का सम्बन्ध केवल सैक्स का थोड़े ही है, आखिर जिन्दगी की इस लम्बी यात्रा में किसी सहारे की, साथ की जरूरत होती है, किसी की बाँहों की जरूरत होती है जो कभी थककर गिरने लगें हम जब, तो आगे बढ़कर थाम लें, दुनियाँ के निष्ठुर प्रहारों से टूट जायें हम जब, तो किसी के कंधे पर सिर रखकर सो सकें। और सुनदा-सरीखी भारतीय नारी—आखिर जिन्दगी की इस लम्बी मंजिल को अकेले कैसे तय कर पाएगी वह ?

उसी दिन सुनदा की माँ से मिली तो उनकी आँखें डबडबा आईं, "सब कर्मों का फल है बेटी, किया भी तो क्या जाय ! सोचा था, कोई अच्छा लड़का मिल जाय तो सुनदा का विवाह करके निश्चिन्त होकर हरिद्वार चली जाऊँ। चार सौ रुपयों में आज की मँहगाई में तो रोटी भी नसीब नहीं होती, पर इसकी उमर भी बढ़ती जाती है।"

मेरा जी भर आया—बेचारी सुनदा ! आज अगर उसके पिता जीवित होते, तो क्या उसे हजार-बारह सौ का लड़का न मिल जाता ? सोलह-सत्रह बरस का तो भाई है उसका, वह किससे क्या बात करे आखिर ? रहे रिश्तेदार, सो वे कब किसके हुए हैं ?

माँ कहती गई, "अब तू ही कोई लड़का बता, चार-पाँच सौ हो चाहे कमाता हो पर खानदानी हो। आखिर औरत को मर्द के सहारे की जरूरत होती है।"

जाने सुनदा के कानों में बात की भनक कैसे पड़ गई, आकर तमककर बोली, 'माँ, तुम मुझे जिन्दा रहने दोगी या नहीं ? मुझे नहीं करवानी शादी-वादी ! जब देखो, मर्द की कमाई, मर्द का सहारा...सुनते-सुनते जीना हराम हो गया है।" और अंग्रेजी में मुझसे बोली, "अब तुमने भी शादी की बात की तो ठीक नहीं होगा, भाभी ! तुम सब जानती हो, मुझे पुरुष जाति से नफरत है !"

मैं अवाक्, स्तम्भित चुप रही, फिर भारी पगों से घर वापस आ गई—हे ईश्वर, इसे सद्‌बुद्धि दे !

दो दिन मैं सुनदा के घर नहीं गई। आखिर तीसरे दिन रहा नहीं गया। गई तो देखा, दरवाज़ा अन्दर से बंद था। आवाज़ लगाई, जवाब नहीं मिला। दरवाज़ा खटखटाने के लिए जैसे ही दबाव डाला कि वह खुल गया। शायद अन्दर से चिटकनी अच्छी तरह बंद नहीं थी। सुनदा ज्यादातर पिछले कमरे मे रहती है। पहला कमरा पार करके उस कमरे में प्रवेश करने लगी तो जो देखा, देखकर मेरा सारा रक्त जम-सा गया, जैसे मुझे लकवा मार गया हो।

चौदह वर्षीय राकेश को बाँहों मे भींचकर सुनदा पागलों की तरह उसे चूमे जा रही थी, दफ्तर आँगिगन मे कसे जा रही थी। कपड़े उसके अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उसकी आँखों में एक अजीब-सा वहशीपन, उन्माद हिलोरें ले रहा था और राकेश उसकी बाँहों से छूटने के लिए छटपटा रहा था, जैसे समझ नहीं पा रहा हो कि आखिर यह सब क्या हो रहा है।

मैंने दीवार का सहारा ले लिया, मानो धरती डगमगाने लगी हो। हतबुद्धि-सी मैं देखती रही, देखती रही—हे ईश्वर, व्यक्ति के बाह्य और अंतर मे कितना वैषम्य है ! गढ़ा जितना ही गहरा होता है, उसे छिपाने के लिए उतनी ही मिट्टी डालनी पड़ती है।

सहसा सुनदा की निगाह मुझ पर पड़ी तो उसके मुँह से ज़ोर की एक चीख निकल पड़ी। पागलों की तरह वह उठी, अपने कपड़े ठीक किये, भयातुर आँखों से मेरी ओर क्षण-भर देखती रही। फिर ज़ोर से राकेश को धकेलकर एक चाँटा रसीद करते हुए वह बोली, "बोल, यह सब कहाँ से सीखकर आया है तू ? अभी कल तो पैदा हुआ है और दुनियाँ भर की बातें जानता है। मुआ, बदमाश कहीं का मैं सो रही थी कि मुए ने मुझे सोये हुए ही । मेरी नींद खुली तो यह सब देखकर मेरी तो आँखें फट गई... । बोल, बोलता क्यों नहीं , ?"

For only serious persons

Rauf
1.2.73.

६ ॥

दिल डूब-सा रहा है

घर से निकला ही था कि सामने देखा सुरेश जा रहा है—सूटेड-बूटेड, हमेशा बिखरे रहने वाले बाल कढ़े हुए, चाल में एक अजीब मस्ती और हमेशा खोए-खोए दिखाई देने वाले चेहरे पर एक नई रौनक ! तेजी से कदम बढ़ाकर मैं उसके पास पहुँचा। सुना कि वह कुछ गुनगुना रहा है जैसे खुशी को वह समेट नहीं पा रहा हो। मैंने पीछे से उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "आज सूरज किधर से निकला है, मियाँ ? यह खुशी का खजाना कहाँ से लूटकर ला रहे हो ?"

वह सहसा चौंका और फिर एक लम्बी साँस भरकर मेरी ओर चुप देखता रहा। मैं सकपकाकर उसकी ओर देखता रह गया। उसकी मस्ती का स्थान एक हद दर्जे की मुर्दनी और खोएपन ने ले लिया था।

एक क्षण चुप रहकर होठों पर एक म्लान मुस्कान लाकर उसने जैसे बड़ी कोशिश करके पूछा, "कयो, कैसे हो ?"

मैंने सहानुभूति से पूछा, "क्यो, भई, क्या हो गया [illegible]म ? दिल की बीमारी की शिकायत तो नहीं है ? अभी तो इतने खुश थे तुम कि जैसे.. ।"

एक आह भरकर वह बोला, "खुशी का मेरे जीवन के साथ सम्बन्ध कब सम्भव है ! मैं तो उस दिन को कोसता हूँ जिस दिन मैं पैदा हुआ था ," और जैसे जी भर आने के कारण वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर सका। ..

"क्यो, तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

एक लम्बी साँस खींचकर वह बोला, "ऐसा लगता है जैसे सारा शरीर टूट रहा है, दिल जैसे डूब रहा है, शून्यता ने जैसे मेरी आँखों में घर बना लिया है !"

"आखिर यह सब ?"

बीच ही में मुझे रोककर वह बोला, "दिल जैसे कब्रिस्तान बन गया है, होठों में जड़ता समा गई है, और चेहरे की सारी रौनक उड़ती जा रही है !"

मैंने बात को हल्का रूप देने के लिए मुस्कराकर पूछा, "कहीं दिल पर तो चोट नहीं खा गए, दोस्त, बड़ी खतरनाक बीमारी होती है यह !"

उसका चेहरा असह्य वेदना से पीड़ित हो उठा। उसके हृदय में जैसे मैंने शूल भोंक दिया हो। स्वर में असीम पीड़ा भरकर वह बोला, "मेरी इस दशा पर भी तुम व्यंग्य कर सकते हो ?"

मैं उत्तर देने ही वाला था कि सहसा मुझे याद आया कि मैंने तो बारह बजे कमलेश को लंच का टाइम दे रखा था। घड़ी में देखा तो साढ़े ग्यारह ! मैंने हड़बड़ाकर कहा, "माफ़ करना, सुरेश ! ज़रा देर हो रही है, फिर मिलेंगे।"

सुनकर उसके चेहरे पर चैन की एक लहर-सी दौड़ गई। शायद उसने सोचा, चलो अच्छा ही हुआ, पीछा छूटा कम्बख्त से, पर प्रकट में बोला, "इतनी जल्दी ? खैर, कभी-कभी मिलते रहा करो, तुमसे मिलकर मन को कुछ शान्ति मिलती है।"

सुनकर मेरे होठों पर एक मुस्कान फिर खेल गई, लेकिन समय की कमी के कारण मैंने चलने की तैयारी की, "अच्छा, भई, फिर मिलेंगे !"

मुझे वह दिन याद आया। हाँ, तीन-चार रोज़ पूर्व की तो बात है। मैं जब पहुँचा तो सुना, चुनौती-सी देते हुये सुरेश किसी से कह रहा था, "तुम लोगों की भी कोई जिन्दगी है, जैसे एक बोझ-सा ढो रहे हो ! अरे, जिन्दगी को उसके आखिरी जाम तक पीकर झूमना तो हम से सीखो ! क्या रोये-रोये से रहते हो !"

मैंने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "कभी इधर भी देख लिया करो, यार !"

उसका चेहरा मुरझा-सा गया, बोला "बहुत दिन बाद दिखाई दिए तुम !"

मैंने कहा, "तुम्हारी खुशी में खलल डालने के लिये माफ़ी चाहता हूँ, दोस्त !"

वह जैसे समझा नहीं, फिर सहसा मेरा हाथ दबाते हुए बोला, "तुम्हारे आते ही जो मैं सहमा चुप-सा हो गया, उसका ज़िक्र कर रहे हो ?" उसने एक लम्बी साँस ली, "अरे यार, ज़िन्दगी से ऊब गए हम तो ! लेकिन हँसना इसलिए पड़ता है कि यार-दोस्त परेशान कर देते हैं पूछ-पूछकर कि भई,

भरी-जवानी में ही तुम जो बूढ़े हो गए हो, क्या बात हो गई आखिर ? अब तुम्हीं बताओ, इस परेशानी से बचने के लिए किया भी तो क्या जाए, सिवाय इसके कि आप बनावटी-कहकहे लगाते रहें।"

लंच खाते समय भी रह-रहकर मेरा ध्यान सुरेश की ओर चला जाता।

लंच खाने के बाद कमलेश बोला, "यार, 'ट्रबल-इन-स्टोर' बड़ी अच्छी कॉमेडी आई है। साढ़े तीन बजे के शो के लिए एक टिकट तुम्हारे लिए भी खरीद लाया हूँ।"

हम सिनेमा-हाल में पहुँचे तो न्यूज-रील शुरू हो चुकी थी। थोड़ी देर में पिक्चर शुरू हुई तो अगली सीट पर बैठे साहब पहले ही सीन को देखकर उछल पड़े, "खूब, बहुत खूब, वन्डरफुल !" और इसके बाद तो हर सीन पर ठहाके लगाकर, ताली बजाकर, उछल-उछल कर वह दाद देते रहे, यहाँ तक कि साथ बैठे लोग चौंककर उनकी ओर देखने लगे।

कमलेश बोला, "अजीब हैं यह हज़रत, ठहाके इस तरह लगा रहे हैं गोया ज़िंदगी में दर्द कभी देखा न हो !"

फिर एक ठहाका लगा तो मैंने पहचाना, अरे, यह तो सुरेश है !

शो खत्म होने पर उसके बाहर निकलने पर मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर पूछा, "क्यों, भई, पिक्चर कैसी लगी ?"

मुझे देखकर उसके चेहरे पर उदासी की घटाएँ घिर आईं, स्वर में निराशा भरकर वह बोला, "एकदम बकवास है ! मैं तो ग़लती से चला आया। जाने इस तरह की वाहियात बातों पर लोग हँस कैसे लेते हैं। क्यों, तुमने भी देखी है क्या ?"

मैंने मुस्कराकर कहा, "मैं तो एकदम तुम्हारे पीछे ही बैठा था ?"

"क्या ?" वह सहसा घबड़ा गया।

कमलेश चूका नहीं, बोला, "लेकिन मास्टर साहब, हम सब लोग तो पिक्चर की बजाय आपके ठहाकों का ही अधिक आनन्द ले रहे थे।"

वह सकपका गया, "जी, मैं मैं ,नहीं तो ।"

मैंने बात बदलकर उसकी इज़्ज़त बचाई, "क्यों, अब कहाँ की तैयारी है ?"

"अब सीधा घर जाऊँगा। तबीयत कुछ ठीक नहीं है," उसने अपनी

मारत से मजबूर होकर कहा।

हवा के साथ खुशबू का एक झोंका आया तो मैंने किसी सुन्दर चेहरे की आशा में नज़र दौड़ाई, किन्तु व्यर्थ ! फिर एक झोंका आया तो पता लगा कि सुरेश ने बालों में खुशबूदार तेल लगा रखा है।

इतने में कमलेश बोला, "भाई साहब, आपका पाउडर का डिब्बा दस-बारह दिन तो चल ही जाता होगा !"

"जी. ?" सुरेश सकपका-सा गया। मैंने पहली बार ध्यान दिया,—उसके चेहरे पर पाउडर की तहें जम रही थीं। मैंने चुटकी ली, "दरअस्ल बात यह है कि इनके चेहरे की रौनक उड़नी जा रही है, इसलिए उसका इलाज करना ही पड़ता है ! क्यों, ठीक है न, सुरेश ?"

व्यंग्य समझ न सकने के कारण सुरेश ने मेरी ओर कृतज्ञता से देखा। मैंने कहा, "अब भई, कमी लिपस्टिक और रूज की ही रह गई है !"

हड़बड़ाकर वह बोला, "अच्छा भई, चलता हूँ, मुझे तो घर जाकर दवाई खानी है।"

इसके कुछ रोज़ बाद की बात है। कनॉटप्लेस में सुरेश मिल गया, तो शिकायत-भरे लहज़े में बोला, "अजीब आदमी हो तुम भी, किसी की जान निकल रही हो और तुम्हें मज़ाक सूझता है। उस दिन .।"

मैंने क्षमा-याचना-सी करते हुए कहा, "क्यों, अब तबीयत कैसी है ?"

मेरा सहारा लेकर वह बोला, "जिस्म टूट-सा रहा है, खड़ा नहीं हुआ जा रहा।"

मुस्कान छिपाकर सहानुभूति दिखाते हुए मैंने कहा, "चलो, किसी रेस्तोरां में चलकर बैठें। शायद तबीयत कुछ सम्हल जाए।"

रेस्तोरां में बैठकर बैरे को बुलाकर मैंने कहा, "क्यों, तुम्हें तो सोडा ही मुआफ़िक आएगा न ?"

"सोडा ?" उसने मुँह बनाकर कहा, "नहीं यार, आज आइसक्रीम खाने का मन है।"

मैंने कृत्रिम आश्चर्य से पूछा, "क्या, इस हालत में आइसक्रीम खाओगे ? कहीं तबीयत ज्यादा खराब हो गई तो ।"

"तबीयत तो हमेशा खराब ही रहती है। वैसे मैं आने से काफ़ी अच्छा महसूस कर रहा हूँ।"

और इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, उसने बैरे से कहा, "एक फ्रूट-आइसक्रीम और एक प्लेट वेजीटेबल-कटलेट !"

और फिर मेरी ओर मुड़कर बोला, "भई, अपना आर्डर तुम दे दो, मुझे कुछ और लेना होगा तो मैं खुद ही वह दूंगा।"

मैंने आर्डर दे दिया। बैरा आर्डर रखकर जाने लगा तो सुरेश बोला, "एक प्लेट चीज़-पकौड़ा और एक ऑरेंज जूस !"

बैरा चला गया तो मेरी ओर मुड़कर वह बोला, "क्यों, पैसे तो हैं न ? यार, तुम लोगों के साथ कुछ खा-पी लेता हूँ, वरना तबीयत ही नहीं करती कुछ खाने को। जाने क्या होता जा रहा है !"

मैंने प्रोत्साहन दिया, "नहीं यार, तुम तो तकल्लुफ करते हो !"

उसने उत्तर दिया, "नहीं दोस्त, खाने को तबीयत ही नहीं करती। हर वक्त पेट भरा-भरा-सा रहता है।"

मैंने मुस्कान रोककर कहा, "रोज रात को सोते समय चूरन क्यों नहीं लेते ? उससे तबीयत भी ठीक रहती है और भूख भी खूब लगती है।"

"अच्छा, अब ऐसा ही करूंगा !"

वह चीज़-पकौड़ा खा चुका तो मैंने बैरे को बुलाकर सुरेश से कहा, "चीज़-टोस्ट यहाँ की स्पेशल-प्रिपेरेशन है।"

"सच ?" उसने चमककर कहा, "मंगवाकर देखें ।"

"मैं तो ले नहीं सकूंगा," मैंने कहा, "अभी शशि के साथ चाय पीकर आया हूँ न !"

"तब तो तुम्हें और कुछ नहीं लेना चाहिए," वह बोला, 'कहीं बदहज़मी हो जाए तो ," और फिर बैरा से, "दो पीस चीज़ टोस्ट !"

चीज़ टोस्ट के आने पर उसने उन्हें जिस तेज़ी से खाना शुरू किया, उसे देखकर ऐसा लगा जैसे वह बरसों का भूखा हो। सॉस की आधी-भरी बोतल को खाली कर जब उसने बैरे से और सॉस लाने को कहा, तब बैरा भी मुस्कराए बिना रह नहीं सका। बैरा जाने लगा तो मैंने कहा, "साहब के लिए एक मसाला-दोसा !"

सुरेश ने विरोध में कुछ कहना चाहा तो मैंने कहा, "यार, तुम तो तकल्लुफ़ कर रहे हो। कुछ खाओगे नहीं तो तबीयत कैसे ठीक होगी ?"

वह एहसान जताते हुए बोला, "अब, भई, तुम कहते हो तो खाए

लेता हूं, वरना तुम तो जानते ही हो कि मैं अस्वस्थ हूँ। लेकिन दोसा सादा ही लूंगा और तुम्हें भी हिस्सा बटाना पडेगा।"

मैंने देखा, सब बैरे सुरेश की ओर आश्चर्य से देखते हुए मुस्करा-मुस्कराकर परस्पर कानाफूसी कर रहे थे।

दोसा खाने के बाद मैंने पूछा, "और क्या लोगे ?"

"और कुछ नहीं। तुम तो जानते ही हो कि तबीयत ठीक न होने के कारण मैं भर पेट खा नहीं पाता।"

'अब भई, पूरन खाना आज रात से ही शुरू कर दो। भला कोई बात है कि आदमी को भूख न लगे। और हां, जब ठीक से भूख लगने लगे तो दुनिया को चुनौती देना कि कौन मां का लाल है जो खाने मे मेरा मुकाबला कर सके।"

"क्या मतलब ?" सहसा क्रोध मे भरकर उसने पूछा।

मैंने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, मैंने तो यों ही कहा था। तबीयत जब गिर रही हो, तब इसमे अच्छा इलाज और क्या हो सकता है कि डटकर खाया जाए। आखिर इसी तरह तो ताक़त आएगी और टूटती रगों मे नए प्राणों का सचार होगा।"

इस से पहले कि वह कुछ कहता, रमेश ने आकर कहा, "हैलो!" और बात वहीं पर थम गई।

"अच्छा भई, चलता हूँ," जाते हुए सुरेश बोला।

वह चला गया तो रमेश बोला, "यार, परिचय तो करा देते इससे। बहुत सहेलियां हैं इस की, कुछ फायदा ही रहता।"

"तुम इसे कैसे जानते हो ?"

"क्लब मे देखा है। कमाल का ज़िन्दा-दिल है।"

मैं मुस्कराया, "तुमने कभी हाल-चाल तो नहीं पूछा इन हज़रत का ?"

"नहीं तो, क... बात ही नहीं हुई। क्यों ?"

"कुछ नहीं, ज़रा यों ही", बात टालते हुए मैंने कहा, "और हां, भई, कल क्लब जाते समय मुझे भी साथ ले चलना।"

दूसरे दिन क्लब जा रहे थे कि रास्ते मे देखा, सुरेश बस-स्टाप पर खड़ा था। मैंने कार रोककर पूछा, "क्यों भई, कहां जा रहे हो ? कहो तो रास्ते मे छोड़ता चलूं।"

"क्यों तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"इण्डिया-गेट," मैं जान-बूझकर झूठ बोला। "क्यों, चलोगे ?"

उसके चेहरे पर वही मुर्दनी छा गई, बोला, "नहीं, यार, तुम्हीं हो आओ, यह सब हमारी किस्मत में कहाँ !"

"क्यों, तबीअत तो ठीक है ?"

अपनी पुरानी आदत से मजबूर होकर वह बोला, "दिल डूब-सा रहा है !"

"अरे, तो आराम करो," मैंने कार चलाते हुए कहा, "अच्छा, गुडबाई।"

कार चली तो रमेश ने पूछा, "क्यों, इसको दिल की बीमारी है क्या ? बेचारा ! पर हाँ, तुम झूठ क्यों बोले कि इण्डियागेट जा रहे हैं ?"

"इसलिये, मेरे दोस्त, कि अगर इसे मालूम हो जाता कि हम भी क्लब जा रहे हैं, तो इसकी दिल की बीमारी ज्यादा बढ़ जाती और तब यह आज क्लब न जा सकता !"

वह चकराया, "क्या मतलब ?"

"यार, ज्यादा टोका मत करो।"

क्लब पहुँचे हमें मुश्किल से पाँच मिनट बीते होंगे कि एक ऐंग्लो-इण्डियन लड़की के हाथ में हाथ डाले एक अजीब अन्दाज से झूमता हुआ सुरेश भी आ गया।

"जरा इधर हो जाओ, ताकि हमें यह देख न ले", मैंने रमेश को एक ओर करते हुए कहा तो वह चकित होकर बोला, "क्या हो गया है तुम्हें ?"

मैंने होंठों पर अँगुली रखकर कहा, "चुप !"

सुरेश ने आते ही खुशी से झूम कर, चिल्लाकर कहा, "चीरियो, कामरेड्स ! देर किस बात की है, हो जाए डांस शुरू !"

और कहते ही उस ऐंग्लो-इंडियन लड़की की कमर में हाथ डालकर उसने इस क़दर तेजी से नृत्य करना शुरू किया कि तालियों से क्लब गूँज उठा।

उसने एक अजीब अदाज से झुककर इस सम्मान को स्वीकार किया। क्लब में जैसे हर लड़की उसके साथ नृत्य करने को बेकरार थी और वह भी गोया उन पर अहसान करने के लिए ही एक-के-बाद-एक नई लड़की के साथ नृत्य

करता रहा। रमेश चकित होकर बोला, "यार, इसका तो दिल डूब रहा था।"

और मैं उस टेबल की ओर देख रहा था जिस पर तीन लड़कियों के साथ बैठकर सुरेश ने चिल्लाकर कहा, "ह्विस्की।"

खुशी और जोश से उनका चेहरा चमक रहा था। फिर चिल्लाकर वह बोला, 'हैलो सूद, शुरू करो यार, तुम भी कैसे मुर्दादिल हो।"

तभी चुपके से रमेश के साथ जाकर मैंने कहा, "हैलो, सुरेश।"

मुझे देखकर वह घबड़ा गया। "तुम तुम यहाँ कैसे? तुम तो इण्डिया गेट जा रहे थे न?" जल्दी से उठकर मुझे एक ओर लेजाकर उसने पूछा।

मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया, "प्रोग्राम कैंसिल कर दिया। सोचा कहीं नृत्य करते-करते तुम बेहोश न हो जाओ, इस कारण क्लब चला आया। तुम्हारा दिल डूब रहा था न, अब कैसी तबीअत है?"

उसके चेहरे का रंग उड़ गया, अपनी टेबल की ओर देखकर वह बोला, "इस बार रहम करो, सुरेन्द्र, इस बार मेरी इज्जत बची रहने दो।"

मैंने उसे सांत्वना देते हुए कहा, "अरे, मैं तुम्हारी मान-हानि करूँगा?...लेकिन तुमने बताया नहीं, अब दिल का क्या हाल है?"

गिड़गिड़ाते हुए वह बोला, "सुरेन्द्र, प्लीज़ ...।"

मुझे तरस आ गया, बोला, "अरे, इतना घबड़ा क्यों रहे हो, यार, मैं किसी से कुछ कहूँगा थोड़े ही। पर खुशकिस्मत हो, दोस्त! हम तो दुआ करते हैं कि ऐसी दिल की बीमारी हमें भी हो जाए। दाद देता हूँ, दिल के डूबने का इलाज अच्छा ढूँढा है तुमने! अच्छा जाओ, कहीं उनसे इतनी दूर रहने से दिल फिर न डूबने लगे।"

मैं जाने लगा तो वह बोला, "कुछ खाओ-पीओ तो सही, यार। आओ परिचय भी करा दूँ। फिर नाइट-शो देखेंगे।"

मैंने जाते-जाते मुस्कराकर कहा, "नहीं दोस्त, न तो मेरा दिल डूब रहा है, न जिस्म टूट रहा है और न आँखों में सूनापन ही समा रहा है...। चीरियो।"

लेकिन मैं खूब जानता हूँ कि हमेशा उन सब के सामने, जिन्हें उसकी इस अभिनय-कुशलता का ज्ञान नहीं है, उसका दिल डूबेगा, जिस्म टूटेगा और आँखों में सूनापन समाएगा।

१०

मोह के वन्धन

Moh Ke Bandhan

किशोरीलाल ने घर के अन्दर कदम रखा ही था कि पार्वती ने आकर कहा, "कुछ सुना, शशि की बहू के लड़का हुआ है।"

चारपाई पर बैठकर निर्लिप्त भाव से वह बोला, 'अच्छा।"

पार्वती उत्साहपूर्वक बोली, "अब तुम दादा बन गए हो, दादा।"

उसी लहजे में वह बोला, "कौन कभी किसी का हुआ है, शशि की माँ। प्यार, मोह केवल छलना है, आत्म-प्रवचना का प्रतिरूप।"

पार्वती सकते में आ गई, बोली, "क्या कहते हो जी तुम, भला अपनों से किसे मोह नहीं होता?"

पर किशोरीलाल तो ममता, मोह से कब का नाता तोड़ चुका था। वह केवल मुस्कराया, जैसे पार्वती की अबोधता पर उसे तरस आ रहा हो। हाँ, जो इसान ज़िंदगी से सबक सीखना ही न चाहे, उसे कहा भी क्या जाए! दो-क्षण चित्रवत् खड़ी रहकर पार्वती ने एक लम्बी साँस ली और रसोईघर में चली गई। इधर एक अरसे से पार्वती किशोरीलाल में एक क्रांतिकारी परिवर्तन होते देख रही थी, पर वह इतना भयानक रूप धारण कर लेगा, इसकी उसने कल्पना भी न की थी। भला कोई बात भी हो, अपनी संतान कितनी भी बुरी हो, पर कोई इस तरह नाता तोड़ देता है?

किशोरीलाल को वह दिन याद आया, जिस दिन शशि पैदा हुआ था। प्यार से विभोर होकर उसने कहा था, "कितना सुंदर है मेरा बेटा, कितना प्यारा!"

अपना पेट काटकर और पत्नी के गहने बेचकर भी वह शशि को पढ़ाता गया, इस आशा में कि डाक्टर बनकर वह उसके बुढ़ापे का सहारा बन सके। वह दिन उसे आज भी याद है, जिस दिन एक सरकारी अस्पताल में शशि को नौकरी मिली थी। किशोरीलाल को लगा था जैसे उसने सवेरा पहली बार देखा हो। नौकरी एक दूसरे शहर में ज़रूर मिली थी, पर इससे क्या हुआ, तीन सौ की नौकरी, फिर रहने को बंगला मुफ्त, कोई कम बड़ी बात है?

शशि ने जबलपुर से पहले महीने डेढ़ सौ रुपये भेजे तो हर्ष से काँपते हुए उसने कहा था, "अब शशि की शादी जल्दी कर दो, शशि की माँ।"

चार महीने बाद ही शशि की शादी हो गई। नवविवाहिता पत्नी के साथ वह जाने लगा, तो किशोरीलाल के हृदय में प्यार का सागर उमड़ आया था, "बहू को किसी प्रकार की कमी महसूस न होने देना, बेटा।"

पर विवाह के छै महीने भी न बीत पाये थे कि किशोरी लाल के वे सपने चूर हो गये। विवाह के दो महीने बाद शशि का पत्र आया

"पूज्य पिताजी,

घर का खर्च बढ़ जाने के कारण मैं इस बार सौ रुपये से अधिक नहीं भेज सकूँगा।

—आपका बेटा, शशि।"

इसके बाद शशि के पत्र छोटे होते गये। हर महीने हाथ तंग होने के कारण रुपये भी कम होते-होते पचास तक आ गये। कभी-कभी किशोरीलाल को लगता कि शशि कुछ बदल-सा गया है, कि हाथ तंग होने की बात महज बहाना है। पर दूसरे ही क्षण वह स्वयं पर झुँझलाने लगता—अरे, उसका शशि इतना गिर सकता है?

पर उस दिन पड़ोस का रामलाल जबलपुर से आया तो बोला, "तुम्हारे बेटे के तो बड़े ठाट हैं, किशोरीलाल।"

उसे टोककर वह बोला, "किसी बात की कमी तो नहीं उसे?"

"कमी किस बात की, दो महीने हुए उसका वेतन तीन सौ से चार सौ रुपये हो गया है, भला किसका सितारा इतना बुलन्द होता है? आज इसकी पार्टी है तो कल उसकी अरे, तुम्हारा बेटा तो राज कर रहा है, राज!"

इसके अतिरिक्त किशोरीलाल से कुछ सुना नहीं गया। तो उसकी आशंका सत्य सिद्ध हुई क्या? पर पिता का विश्वास हार नहीं मान सका था, भला उसका शशि अपने माँ बाप को इस तरह धोखा दे सकता है? बर्फीली हवा का एक झोंका आया तो उसे याद आया कि सर्दियों के लिए उसके और उसकी पत्नी के पास एक भी गरम कपड़ा नहीं था। और फिर शशि की माँ की तबीयत भी कुछ दिनों से ठीक नहीं थी। काफी सोचने के बाद उसने बेटे को इस बारे में लिखा तो बेटे का उत्तर आया था

"पिताजी,

मुझे खेद है कि हाथ तंग होने के कारण मैं इस समय और रुपये भेजने में असमर्थ हूँ। आशा है कि आप मेरी मजबूरी समझेंगे। बुरा न मानें तो एक बात कहूँ, आप खर्च जरा किफायत से किया करें।

बेटा, शशि।"

पढ़कर किशोरीलाल स्तम्भित रह गया था। दो क्षण वह उस पत्र को देखता रहा था, मानो उसे अपनी आँखों पर विश्वास न हो रहा हो। आखिर हारकर उसने पत्र बन्द कर दिया था—हाँ, पत्र उसके शशि का ही था, शशि का जिसके सहारे उसने रंगीन स्वप्न देखे थे, ऊँचे-ऊँचे महल बनाये थे।

पार्वती ने खाँसते हुए अन्दर आकर कहा था, "भला इस तरह कब तक बैठे रहोगे ? अरे, यह सब तो हमेशा से होता आया है, फिर दुःखी होने से लाभ ?"

पत्नी के मुरझाए चेहरे को देखकर किशोरीलाल को याद आया था कि दस रोज से उसने दवाई की एक बूँद भी नहीं पी थी। पीती भी कैसे, खरीदने को पैसे हो तब न ! और बेटे का पत्र आया है, किफायत से खर्च किया करो ?

सोचकर किशोरीलाल के दिल में दर्द-सा होने लगा—हाँ, पार्वती ने ठीक ही कहा था, यह सब तो हमेशा से होता आया है, कोई नई बात थोड़े ही है। किंतु आज वही पार्वती ममता, मोह के बन्धन फिर से बाँधना चाहती है। यह कोरी भावुकता के अतिरिक्त क्या है आखिर ? और भावुकता और मूर्खता में अन्तर ही कितना है ?

विचारों की शृङ्खला बढ़ती जा रही थी कि पड़ोसी हीरालाल ने आकर कहा, "कुछ सुना, चाचा, सुरेश सेठ नानकचन्द की दुकान पर नौकर हैं, चालीस रुपये महीने पर।"

पार्वती ने सुना तो उसके दिल की धड़कन बन्द हो गई, व्याकुल होकर बोली, "हाय मेरा लाल ! मुझे कल उसके पास ले चलना, भैया, मैं उसे मना लूँगी। भला कोई इस तरह रूठ जाता है ?"

किशोरीलाल ने कठोर स्वर में कहा, "किसी के पास जाने की जरूरत नहीं, सुरेश की माँ !"

पार्वती ने विरोध करते हुए कहा, "तुम कैसे हो जी ?"

"तुमने सुना नहीं, पारो ?"

पार्वती स्तब्ध रह गई। हो क्या गया है इन्हें ? मोह, प्यार तो जैसे छू तक न गया हो ! भला आदमी अपनों को पराया कैसे मान ले ? वह दिन उसे याद आया जब दूर के रिश्ते की एक विधवा बहन की मृत्यु हो जाने पर उसकी सात वर्षीय इकलौती सतान सुरेश को उसकी गोदी मे देते हुए किशोरीलाल ने रुँधे कठ से कहा था, "आज से इसे अपना ही बेटा समझना, शशि की माँ।"

पार्वती ने ममता मे भरकर सुरेश को छाती से लगा लिया था तो भावातिरेक से किशोरीलाल की आँखो मे आँसू आ गये थे। शशि को बुलाकर उसने कहा था, "आज से सुरेश तेरा छोटा भाई है, बेटा !"

चौदह वर्षीय शशि ने उछलकर जब कहा, "यह कितना सुन्दर है, पिताजी," तो किशोरीलाल के दिल से एक बोझ-सा उतर गया था।

डेढ सौ रुपयों की क्लर्की के पश्चात् थका-माँदा किशोरीलाल घर लौटता तो माँ के पास जाने के लिये रोते सुरेश को चुप कराने के लिये वह कभी उसे टॉफी और कभी गोली ले देता। सुरेश माँ को भूलकर उसके गले मे बाहें डाल देता। उसे ऐसा लगता जैसे इस भोले, मासूम बच्चे के प्यार ने उसकी जिंदगी मे एक नया आकर्षण उत्पन्न कर दिया हो। मोहल्ले की पाठशाला मे उसने सुरेश को भी दाखिल करा दिया। इससे दो दिन बाद की बात है, एक दिन मास्टर रामकिशन उससे मिले तो बोले, "सुरेश का खयाल रखा करो, किशोरीलाल। चोरी करना सीख गया है।"

"क्या.. ?"

क्रोध से काँपते हुए घर आकर सुरेश के कान पकडकर उसने पूछा था, "तू चोर करना सीख गया है, रे ?"

सुरेश सहमा-सा खडा रहा तो गरजकर वह बोला था, "खबरदार जो फिर ऐसी शिकायत आई तेरे बारे मे।"

सुरेश डरकर दो कदम पीछे हट गया तो उसे पुचकारकर वह बोला था, "चोरी करना बहुत बुरी बात है, बेटे, फिर कभी मत करना, समझे ?"

पर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया था, सुरेश के बारे मे शिकायतें बढती गई थी। बहुधा प्यारवश किशोरीलाल सुनकर अनसुना कर देता। महीने

वर्षों मे बदल गए। एक दिन शाम को किशोरीलाल घर आया तो उसकी आंखो के सामने अंधेरा छा रहा था—उसकी नौकरी छूट गई थी। उसने अन्दर कदम रखा तो उसे ऐसा लगा कि जैसे घर मे मौत का-सा सन्नाटा छाया हो। सहमकर उसने पूछा, "क्या हुआ, सुरेश की माँ ?"

बुझते दिल से पार्वती बोली थी, "तुम्हारा बेटा नशे मे चूर अन्दर पडा है।"

किशोरीलाल सकते मे आ गया। अन्दर जाकर उसने जो देखा तो क्रोध के मारे उसकी मुट्ठियां भिंच गई थी, "सुरेश !"

सुरेश उसी तरह पडा रहा था। क्रोध से पागल हो वह आगे बढा तो उसे रोकते हुए पार्वती ने कहा था, "जो कहना हो कल सुबह कह लेना, इस समय वह होश मे थोडे ही है।"

"तुम हटो जी !"

"तुम्हें मेरी कसम जो इस समय कुछ कहो। क्यो रात के वक्त सारी दुनियाँ मे ढिंढोरा पीटते हो ?"

बडी मुश्किल से स्वय को वश मे करके वह सुबह की इतजार करने लगा। सुबह हुई, उसकी आँखें खुली तो देखा, सुरेश अपनी चारपाई पर बैठा अगडाई ले रहा था। गरजकर वह बोला, "तूने कल शराब पी थी ?"

सुरेश ने कोई उत्तर नही दिया तो वह बोला, "जवाब क्यो नही देता ?"

"आप कौन होते हैं मुझसे जवाब तलब करने वाले ?" सुरेश अकडकर बोला तो किशोरी लाल सकपका गये थे, "क्या कहा ?"

"आपके साथ मेरा निर्वाह नही हो सकता। जब से होश सम्हाला है, डॉट ही खाई है। आप मेरे पिता नही है जो ।"

"बको मत !"

"आप रोब किस बात का डाल रहे हैं ? मैं जा रहा हूँ, आप की दो रोटियो का मुहताज नही हूँ।"

हतबुद्धि से किशोरीलाल जाते हुए सुरेश को देखता रहा था। उफ, दुनियाँ कितनी कृतघ्न है !, और आज वही सुरेश किशोरीलाल ने घृणा से मुँह बिचका लिया, मेरा किसी से कोई नाता नही रहा अब।

पर तसल्ली देकर इसान कब तक जी सका है ? किशोरीलाल के दिल मे दर्द सा होने लगा। उसे किरण की याद आई। प्यार मे वे वायदे, उनकी

स्मृति आज भी उनके अन्तःकरण को बींधती है। वे दिन उसे आज भी याद हैं जब उसे अपनी ओर खींचकर वह कहता, "किरण !" और किरण प्यार से विभोर होकर उससे लिपट जाती थी। जन्म-जन्मान्तर तक साथ रहने की वे प्रतिज्ञा करते। ज़िन्दगी इतनी मधुर किशोरीलाल को कभी नहीं लगी थी। पर एक दिन वह किरण के घर गया तो उसे जैसे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ—किरण श्याम के बाहुपाश में बँधी हुई थी। कुछ क्षण वह देखता रहा और फिर धीरे-धीरे वापस चला आया, उसकी ज़िन्दगी जैसे लुट गई हो। प्यार का अन्त इतना करुण, इतना निर्मम होगा, उफ़ ! ज़िन्दगी में उसका सारा आकर्षण खत्म हो गया। माँ-बाप को वह बचपन में ही खो चुका था। एक रिश्तेदार की कृपा से एम ए पास करने के बाद वह अस्सी रुपये महीने पर एक मारवाड़ी सेठ की दुकान पर क्लर्क लग गया था। इतनी बड़ी दुनियाँ में किरण ही थी, जिसे वह अपनी कह सकता था। किन्तु वह उसके साथ इतना बड़ा मज़ाक करेगी, किशोरीलाल ने कभी नहीं सोचा था।

किसी तरह वह ज़िन्दगी के प्रति फ़र्ज़-अदायगी निभाए जा रहा था कि एक दिन उसके वे ही रिश्तेदार आकर बोले, "मैं किशनचन्द की बेटी पार्वती से तुम्हारी सगाई पक्की कर आया हूँ, बेटा।"

किशोरीलाल जानता था, उसकी पसन्द का कोई महत्व नहीं, शादी तो उसे यहीं करनी पड़ेगी ही। आज से दो महीने पहले वह डटकर इसका विरोध करता, किन्तु अब ज़िन्दगी की वह आग उसमें बुझ चुकी थी, बुझे मन से उसने हामी भर दी।

सुहागरात को घूँघट उठाकर उसने देखा, पार्वती देखने में बुरी नहीं थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, पत्नी का प्यार उसके दिल के घाव को भरता गया और जब दस महीने पश्चात् एक तीसरे प्राणी ने आकर उनके प्यार पर मुहर लगा दी, तो वह आनन्द से विभोर हो गया था। पार्वती ने प्यार से बच्चे को थपथपाकर कहा था, "क्यों जी, इसका नाम चाँद कैसा रहेगा ?"

पुलकित होकर वह बोला था, "अरे, चाँद-सा सुन्दर तो यह है ही !"

चाँद की मासूम मुस्कान देखकर उसकी दिन-भर की थकान दूर हो जाती। उसकी तोतली बोली सुन प्यार से विभोर होकर वह उसे चूमने

लगता था, इतना कि पार्वती को याद दिलाना पड़ता, "आज खाना नहीं खाओगे क्या ?"

जिन्दगी मे खोया आकर्षण फिर से पैदा हो गया, मानो उसे जीने का एक नया आधार मिल गया हो।

पर एक दिन वह ऑफिस से घर आया, तो पार्वती ने रुँधे कंठ से कहा, "चाँद को पता नहीं क्या हो गया है, बोलता ही नहीं।"

सकपकाकर वह अन्दर गया तो देखा, चारपाई पर औंधा पड़ा चाँद बड़बड़ा रहा था, आँखें उसकी चढ़ी हुई थी और शरीर तवे के समान तप रहा था। घबड़ाकर वह वैद्यजी को बुला लाया, किन्तु रात के दो बजे इस दुनियाँ से, माँ-बाप के दुलार से, प्यार से हमेशा के लिए नाता तोड़कर चाँद चल दिया।

नियति के इस क्रूर व्यंग्य ने किशोरीलाल के दिल को बीध दिया। इतनी अप्रत्याशित चोट सहने की हिम्मत नहीं थी उसमे। हर गुजरते दिन के साथ जिन्दगी मे उसकी आस्था खत्म होती गई। उसे लगा कि जैसे जिन्दगी का बोझ वह ढो नहीं पाएगा। उफ, प्यार का अन्त एक लम्बी अँधेरी रात ही है क्या ?

पर आशा-दीप पूर्णतया बुझ नहीं पाया, अधकार रोशनी को निगल नहीं सका। चाँद की मृत्यु के दस माह पश्चात् शशि का जन्म हुआ तो जैसे जिन्दगी फिर मुस्कराई, शशि के रूप मे प्यार एक बार फिर उसकी जिन्दगी का सहारा बनकर आया। हाँ, आखिर इसान अतीत के कटु अनुभवो के कारण प्यार के नातो रिश्ता को कैसे तोड़ दे ? लेकिन आज . हाँ आज उसी शशि का पत्र आया है कि ।

और सुरेश किशोरीलाल के दिल में वेदना की एक लहर सी उठी। प्यार, ममता, मोह ने दर्द, अभाव और घुटन के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया, कितना बड़ा व्यंग्य है यह !

जिंदगी का चक्र रुका नहीं, किन्तु गहन अनास्था और अनासक्ति के सर्प ने किशोरीलाल के सारे जीवन को विषाक्त कर दिया।

एक दिन वह लेटा हुआ था कि पार्वती ने तेजी से आकर कहा, "बहू का पत्र आया है, मुन्ना बहुत बीमार है।"

खीझकर वह बोला, "तुम मुझे कभी चैन लेने दोगी कि नहीं ? मेरा

११

अपनी-अपनी बात

१

दफ्तर से घर आते समय अविनाश का दिल क्रोध से उबल रहा था। रह रह कर मिस्टर चैटर्जी के शब्द उसके कानों में गूँज उठते, "तुम काम ध्यान लगाकर क्या नहीं करता ? हम रोज़-रोज़ की ग़लतियों को कैसे माफ़ कर सकेगा ?"

अविनाश का मन किया था कि कहे साहब, आज ही तो ग़लती हुई है। लेकिन सिर झुकाए वह सुनता रहा, जवाब देकर नौकरी को लात कैसे मार दे वह ?

उसे चुप देख मेज पर ज़ोर से हाथ मारते हुए भल्लाकर मिस्टर चैटर्जी ने कहा, "जाओ, आगे ऐसी ग़लती न हो, तुम्हारे साथ सिर खपाने के लिए हमारे पास वक्त नहीं है, सुना ?"

अविनाश क्रोध से तिलमिला उठा था—साले को सारे दिन मेज पर पैर रखे सिगार फूँकने रहने से तो छुट्टी नहीं मिलती और बातें देखो कितनी बनाता है ! लेकिन दिल के गुबार दिल ही में रह गए और उसे खून का घूँट पीकर चुप रह जाना पड़ा। इन्सान की सबसे बड़ी कमज़ोरी और दुख उसकी विवशता है।

घर आते समय सारे रास्ते वह बड़बड़ाता रहा, "साला आदमी है कि रेल का इंजन, कभी ठंडा ही नहीं होता ! सिवाय हुक्म चलाने और झिड़कियाँ देने के साले को कोई काम ही नहीं है, और जब मुआयने का समय आता है तो कैसी मीठी-मीठी बातें बनाता है, शिष्टाचार का कैसा ढोंग रचता है ! उल्लू का पट्ठा !"

विचारों की कड़ी टूटी, ज़ोर-ज़ोर के नारों से वह चौंक उठा। देखा, लगभग पाँच सौ व्यक्तियों का एक जलूस बड़े ज़ोरों से नारे लगा रहा था, "तानाशाही बंद करो ! अत्याचारी मुर्दाबाद ! न्याय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है !"

अविनाश की रगों में एक नया खून दौड़ गया, आशा की एक नई

शहर में वह बह गया। उसका मन किया कि चिल्ला-चिल्लाकर मिस्टर चैटर्जी को सुना दे कि अन्याचार का जमाना लद गया है और न्याय की विजय होकर ही रहेगी।

लेकिन उसे भूख बड़े जोर की लगी थी, इसलिए वह लम्बे डग भरता हुआ तेजी से चलता गया। इसी पेट की खातिर ही तो आज इतना अपमान सहना पड़ा था—सोचकर अविनाश क्रोध से भर गया—फिर भी उसकी पूजा किए बिना वह कैसे रह सकता था!

काठ के उल्लू कुरसी पर बैठकर अपने को खुदा की दुम समझने लगते हैं। क्या शान से टाँगे फैलाए हुक्म चलाते हैं—यह करो, वह करो, ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया। इतनी भी अक्ल नहीं कि आखिर इन्सान ही से तो भूल होती है। लेकिन नहीं, देखता ऐसे है जैसे खा जायगा।

घर पहुँचकर उसने देखा, दरवाजा बंद था। वह झुँझला उठा, "जब देखो दरवाजा बंद, जैसे दिनदहाड़े चोर-डाकू ही तो घुस आयेंगे!" उसने दरवाजे को बेदर्दी से पीटना शुरू किया।

आखिर शैल ने दरवाजा खोला, "क्या करते हो? इतनी जोर से खटखटाने की क्या जरूरत थी? आ तो रही थी! मुहल्ले वाले क्या कहते होंगे!"

"मुहल्ले वाले जायें जहन्नुम में!" वह उबल पड़ा, "और हाँ, मेरे सामने बहुत बोला मत करो, सुना?"

पति के तेवर चढ़े देखकर शैल चुप हो रही।

"पापा आ गए, हमारी टॉफी लाए?" कमरे में प्रवेश करते ही नीना ने उछलकर उसकी गोद में चढ़ने का प्रयत्न करते हुए पूछा।

"चल, दूर हट! ऊपर क्यों चढ़ी आती है?" उसे धकेलते हुए अविनाश बोला, "चल, भाग!"

पापा के तेवर देखकर नीना का मुँह उतर गया, रुआँसी होकर बोली, "लेकिन, पापा, हमारी टॉफी।"

"तू जाती है कि मार खाएगी? कम्बख्त को खाने और सोने के सिवा कोई और काम ही नहीं है!"

"जा, बेटी, कल ला देंगे," नीना को सहमी देखकर प्यार से उसे बाहर भेजते हुए शैल ने कहा, "पापा की तबीयत आज ठीक नहीं है, हूँ!" और फिर अविनाश की टाई खोलती हुई बोली, "तबीयत खराब है क्या?

चाय बनाऊँ ?"

"नहीं !"

"एक प्याला पी लो, तबीयत जरा ठीक हो जायगी।" अविनाश के जूतों के फीते खोलते हुए शैल बोली।

"मुझे तंग मत करो, अपनी यह डॉक्टरी अपने पास ही रहने दो, सुना ? एक मिनट भी तो चैन नहीं लेने देती !"

शैल स्तब्ध रह गई—जाने क्या हो जाता है इन्हें कभी-कभी, सीधे मुँह बात ही नहीं करते। बात करो तो खाने को दौड़ते हैं।

"मेरी कॉटन की पैंट कहाँ है ?" दो क्षण की चुप्पी के पश्चात् अविनाश ने पूछा।

"क्यों, कहीं जा रहे हो क्या ?"

"हाँ, क्लब।" तीखे स्वर में अविनाश ने कहा।

"क्लब थोड़ी देर बाद चले जाते, अभी तो बहुत समय है," डरते-डरते शैल बोली, "थोड़ा आराम कर लो, फिर चले जाना।"

"मैं कहता हूँ, तुम मेरी हर बात में टाँग क्यों अड़ाती हो ? आखिर अपनी यह आदत तुम कब छोड़ोगी ? अपना भला-बुरा मैं खुद सोच सकता हूँ, समझीं?" आलमारी में से पैंट निकालकर उसे पहनते हुए वह बोला।

शैल रुआँसी हो गई, "हाँ, मैं कौन होती हूँ तुम्हारी बातों में दखल देने वाली ! जाने क्या हो गया है तुम्हें—सीधे मुँह बात ही नहीं करते, जैसे किसी से लड़कर आये हो।"

अविनाश का पारा और चढ़ा, "तुम अपनी यह बकवास बंद भी करोगी या काम तो कुछ करना नहीं, बातें बनाना और आँसू बहाना खूब आता है। सुबह पच्चीस बार कहा कि पैंट में बटन लगा देना, लेकिन नहीं, इसमें रानी साहब का भी क्या कसूर—अपने बनाव-शृंगार से उन्हें छुट्टी मिले तब न !"

"अरे, मैं तो भूल ही गई थी," शैल लज्जित होकर बोली, "लाओ, लगा दूँ। असल में सारा दिन सिर-दर्द इतना होता रहा कि कुछ काम करने को मन ही नहीं किया।"

"रहने दो, मैं सब समझता हूँ," अविनाश बोला, "ये बहाने किसी और के सामने बनाना।"

शैल स्तब्ध रह गई—क्या हो गया है आज अविनाश को ? शैल के ज़रा-सा भी सिर-दर्द होने पर जो डॉक्टरो के पास भागा फिरता था वह आज. .।

"सुई, धागा और बटन कहाँ हैं ?" अविनाश ने झुंझलाकर पूछा।

शैल बटन लगाने लगी तो वह पीछे हट गया, "रहने दो, मैं खुद लगा सकता हूँ।"

शैल की आँखो मे आँसू आ गए, बोली, 'एक भूल की इतनी बडी सज़ा तो न दो। आखिर इन्सान ही से तो भूल होती है !"

अविनाश ज़रा ठिठका। हाँ, वह भी तो सारे रास्ते यही कहता आया था कि आखिर इसान ही से तो भूल होती है। मानव पूर्ण रहा ही कब है ? लेकिन दूसरे ही क्षण वह सँभल गया—जब उसके साथ ही नरमी नही दिखाई गई तो वही क्यो दिखाए ?

"रहने दो," उसने कठोर स्वर मे कहा, "कोई ज़रूरत नही।"

अविनाश के उसी तरह क्लब मे चले जाने से शैल की आँखो मे रहा-सहा मेघ भी बरस पडा—जाने क्या हो गया है इन्हें, जितना ही झुको, सिर पर ही चढे आते हैं। दुनियाँ आखिर इतनी निर्मम, इतनी निष्ठुर, इतनी कटु बन कैसे जाती है ? दूसरो को दुखी देखकर भी आखिर उसे तरस क्यो नही आता ? शैल की आँखो मे उस समय इतनी करुणा थी कि विधाता के दिल होता अगर, तो वह रो पडता।

"ममी, पापा कहाँ गये ?" नीना ने आकर पूछा।

"गये होंगे कहीं सैर-सपाटा करने," शैल कटुता से बोली, "मर्दों को घूमने की जगहो की कोई कमी है !"

"ममी, पापा को आज इतना गुस्सा क्यो आ रहा था ?"

"आये होंगे किसी से लडकर, और गुस्सा घर वालो के सिवा और किस पर उतर सकता था !" शैल कहती गई और नीना आँखें चढाए दिमाग पर पूरा ज़ोर डालकर समझने की कोशिश कर रही थी कि ममी आखिर कह क्या रही है !

"हिन्दुस्तान की नारी को झिड़कियाँ खाने और अत्याचार सहने के अलावा काम ही क्या है !"

"ममी, ८ बज गए हैं, बहुत भूख लगी है, लेकिन रामू ने अभी खाना तैयार ही नहीं की।

विचारों की कड़ी टूटी, शैल को सहसा क्रोध आ गया, "रामू, ओ रामू !" उसने चिल्लाकर कहा, "अरे, कहाँ मर गया है ?"

"जी, बीबीजी," दो क्षण पश्चात् रामू ने आकर कहा।

"क्यों रे, कब से गला फाड़ रही हूँ, तुझे सुनाई नहीं देता क्या ?"

"आए तो रहे, बीबीजी !"

लेकिन शैल थी कि बोले जा रही थी, "मुए को अंगड़ाइयाँ और उबासियाँ लेने के सिवा कोई काम ही नहीं है। क्यों रे, आज चाय को इतनी देर क्यों कर दी ?"

"देर कहाँ हुई है, बीबीजी ! आप रोज इसी वक्त तो चाय पीयो हो।"

शैल उबल पड़ी, "तुमसे कितनी बार कहा है, जबान मत लड़ाया कर। काम करना है तो चुपचाप किया कर, वरना नौकरों की कमी नहीं है, सुना ?"

रामू बड़बड़ाता हुआ रसोई की ओर चल दिया, "सारे दिन काम करते-करते मर तो जाएँ हैं, लेकिन सिवा झिड़कियों और धमकियों के जैसे हम पशु हो।"

"अरे ओ रामू, पानी डाल दे जल्दी, मुझे देर हो रही है," बाहर से जमादारनी की आवाज सुनाई दी।

"ठहर री, आसमान सिर पर क्यों उठाए हो !" रामू की डाँट सुनाई दी।

रामू चाय का पानी और दूध रखकर जाने लगा तो शैल फिर बोली, "तुझे कब अक्ल आएगी कि चाय के साथ छलनी रखते हैं ! रोज-रोज एक ही बात समझाते समझाते दिमाग खराब हो गया है मेरा।"

रामू का मन किया कि कहे - दिमाग तो आपका शुरू से ही खराब था बीबीजी, पता आपको आज चला है।

"रामू, अरे ओ रामू !" जमादारनी की आवाज फिर सुनाई दी।

सुनकर रामू को आग लग गई, "चुप कर री लाट साब की बेटी ! सिर पर क्यों उठाए हो ?"

"दो घंटे तो हो गए, और कितनी देर बैठूँ ?"

"अच्छा, अच्छा, बहुत बातें मत बना, नहीं तो दो घंटे और बिठाऊँगा।" ने तेवर चढ़ाकर कहा।

"ज़रा जल्दी भर दो, भैया," जमादारनी ने गिड़गिड़ाकर कहा, "अभी मुझे तीन घर और भी करने हैं।"

"अरे, तो यहाँ कौन खाली बैठे हैं? चुपचाप बैठ, बकवास बन्द कर!" अन्दर जाते हुए वह बोला।

"क्या आँखें लाल-लाल करके देखता है मुआ, जैसे खा जायगा! कभी सीधे मुँह बात ही नहीं करता। हर रोज़ तंग करने से जाने इसे क्या मिलता है!" जमादारनी मुँह चढ़ाकर बोली, 'अपना राशन है, राशन!"

१२

हाँ, वह मेरा दुश्मन है

बगल के कमरे से चुन्नू के रोने की आवाज सुनाई दी तो शशि चिल्लाई, "शेखर, तूने इसे फिर मारा क्या ?"

शेखर जल्दी से आकर अपनी सफाई देते हुए बोला, "अम्मां, अपना खिलौना तोड़कर मेरा खिलौना माँगता है, मैंने नहीं दिया तो रोने लगा।"

शशि ने उसे पुचकारते हुए कहा, 'दे दे बेटा, तेरा छोटा भाई जो है। दे दे, बड़ा अच्छा लड़का है।"

'नहीं, मैं नहीं दूँगा," खिलौने को कसकर पकड़ते हुए शेखर बोला, "मुझे वह अपनी कोई चीज देता है ?"

शशि ने फिर पुचकारा, "अबोध जो है वह। तू तो राजा बेटा है न !"

मा से प्रोत्साहन पा तीन वर्षीय चुन्नू ने सारा घर सिर पर उठा लिया, पर शेखर इस प्रकार झाँसे मे आने वाला नहीं था, बोला, "मैं नहीं बनता राजा बेटा, हमेशा राजा बेटा कहकर ही मेरी सब चीजें उसे दिला देती हो।"

"अरे, तुझे तो यह बहुत अच्छा लगता है," शशि ने एक दाँव और चलाया, "देख तो, कितना प्यारा है यह ! और फिर छोटे भाई को रुलाया करते हैं ?"

इतने दिन का गुबार आज विद्रोह के स्वर मे फूट पड़ा, वह चिल्लाकर बोला, "नहीं, नहीं, मैं कभी नहीं दूँगा मुझे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। हमेशा पिटवाता रहता है और बनता है मेरा भाई। देख लेना, मैं इसे किसी दिन जान से मार डालूँगा !"

सुनकर शशि सकते मे आ गई। एकटक उस आठ-वर्षीय बच्चे की ओर देखती रह गई, जिसके चेहरे से ऐसा लगता था जैसे खून करके आया हो। फिर खिलौना उसके हाथ से छीनकर जोर से एक चपत मारती हुई वह बोली, "फिर कहा तो जबान खीच लूँगी। बोल, यह सब किससे सीखकर आया है तू ? गंदे आवारा लड़को के साथ खेलन लगने अब घर से बाहर कदम रखा तूने, तो टाँगें चीर दूँगी, सुना? आने तो दे आज पापा को, तुझे घर से निकाल

बाहर नहीं किया तो कहना !"

पर शेखर आज विद्रोह करने पर तुल गया था, अक्खड़ स्वर में बोला, "निकाल दो, मुझे परवा थोड़े ही है। मैं खुद इस चुन्नू के बच्चे के साथ नहीं रहना चाहता। यह तो मेरा दुश्मन है, दुश्मन !" दुश्मन शब्द का पूरा अर्थ न समझते हुए भी उसने सुना-सुनाया शब्द दोहरा दिया।

शशि स्तंभित रह गई, फिर चीखकर बोली, "तू चुप करेगा कि नहीं ? अम्मां के सामने ऐसे बोला करते हैं !"

शशि पीटते-पीटते बेदम हो गई, पर शेखर कहता गया, "हां, वह मेरा दुश्मन है, जरूर दुश्मन है, और तुम मेरी अम्मां नहीं हो, चुन्नू की अम्मां हो। मारो, और मारो, पर मैं भी इसे जान से मार डालूंगा, तुम देख लेना।"

शशि क्रोध से पागल हो गई। उसे घसीटकर स्टोर में बन्द करते हुए दांत पीसकर बोली, "आज से तेरा खाना पीना सब बंद। भूखा मरेगा तब पता चलेगा।"

पर शेखर चुनौती देते हुए बोला, "अरे, न दो खाना, मर ही तो जाऊंगा !"

कुर्सी पर बैठकर शशि ने अपना सिर पकड़ लिया। शेखर उसके लिए एक समस्या बनता जा रहा था। बात बात पर चुन्नू को रुलाना, चिकोटी काटकर भाग जाना, एकांत देखकर चपत मार देना, आखिर क्या करे शशि उसका ? रमेश का भी तो छोटा भाई है, कितना प्यार करता है वह उसे, लेकिन यह शेखर ! उसके कानों में शेखर के वे शब्द गूंज उठे, "हां, हां, यह मेरा दुश्मन है, और तुम मेरी अम्मां नहीं हो, चुन्नू की अम्मां हो।" शशि ने कानों में उंगली डाल ली, जैसे वह गूंज उसे पागल बना देगी।

उसे वह दिन याद आया, जिस दिन चुन्नू पैदा हुआ था। उसे देखकर शेखर तालियां बजाते हुए बोला था, "देखो, अम्मां, कितना प्यारा, कितना छोटा है यह, पिद्दी-सा ! अम्मां, यह मेरा छोटा भाई है न ?" और तब तेजी से चिल्लाता हुआ वह बाहर भाग गया था, "अरे ओ देखू, देख तो मेरा भाई !"

चुन्नू रोने लगा तो उसके प्राण जैसे मुंह तक आ गए थे, "यह रोता क्यों है, अम्मां ? इसे ये खिलौने दे दो," अपने खिलौने उसे देने की चेष्टा करते हुए वह बोला था।

एक सप्ताह इसी प्रकार बीत गया था, लेकिन फिर जाने क्यों चुन्नू शेखर को अखरने लगा। बात-बात पर कहता, "मुझे नहीं चाहिए यह। भेज दो इसे जहाँ से आया है।"

और आज बात यहाँ तक पहुँच चुकी है। शशि परेशान हो गई। आखिर क्या करे वह ?

स्टोर में बंद शेखर की आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थी। जिस उमग के साथ तीन वर्ष पूर्व उसने चुन्नू के आगमन का स्वागत किया था, आज वह उसके दिल में दर्द, वेदना और अभाव के गहरे चिह्न छोड़ गई थी। उसने कभी नहीं सोचा था कि वह सुदर दीखने वाला छोटा-सा खिलौना धीरे-धीरे उसके सारे अधिकार और उसके प्रति सबका प्यार छीनकर उस पर स्वय अधिकार कर लेगा।

हाँ, उसी दिन की तो बात है जिस दिन चुन्नू पैदा हुआ था। रोज की तरह रात वह अम्माँ के साथ सोने लगा, तो अम्माँ ने चुन्नू को प्यार से सहलाते हुए साथ वाली चारपाई की ओर इशारा करते हुए कहा था, "तेरी चारपाई यह है बेटा, अब तो तू बडा हो गया है न !"

"नहीं, मैं तुम्हारे साथ सोऊँगा," उसने मचलकर कहा था। लेकिन और दिनों की तरह शशि ने उसे प्यार से चूमकर छाती से नहीं लगाया, बोली, "ज़िद नहीं किया करते बेटा, जा, सो जा अपनी चारपाई पर।"

शेखर ने फिर ज़िद की थी, "तो चुन्नू क्यों तुम्हारे साथ सो रहा है ?"

शशि ने कुछ खीभकर कहा था, "अरे, तो तू क्या हमेशा मेरे साथ ही सोता रहेगा ? देखता नहीं, कितना बडा हो गया है तू !"

शेखर माँ की ओर देखता रह गया था। आज तक शशि ने उसकी कोई बात टाली नहीं थी। उसने शिकायत-भरी निगाह से शशि की ओर देखा, लेकिन शशि तो चुन्नू को थपकियाँ दे रही थी।

एक क्षण शेखर चुप रहा था, फिर अकेले उसे डर-सा लगा तो उसने पुकारा, "अम्माँ !"

शशि ने चिढ़कर पूछा था, "क्या है ?"

सुनकर शेखर को ठेस सी लगी थी ! होंठो तक आती रुलाई रोककर रूठे स्वर में बोला था, "कुछ नहीं।"

उसे आशा थी कि मम्मी उसे अपने पास बुलाकर मना लेगी, पर शशि ने करवट बदलकर कहा, "अच्छा, तो सो अब !" सुनकर उसके दिल को चोट-सी लगी थी।

उस रात शेखर सो नहीं सका था। उसे ऐसा लगा जैसे उसका एक प्रतिद्वंद्वी पैदा हो गया हो। कल रात तक आठ वर्ष रोज मम्मी के साथ सोने के बाद शेखर कैसे मान ले कि आज एक ही दिन में वह इतना बड़ा हो गया है ! किन्तु सुबह तक वह सब-कुछ भूल चुका था, चुन्नू को रोते देखकर वह बोला, "इसे भूख लगी है मम्मी, दूध पिलाओ !"

इसके कुछ रोज बाद की बात है, चुन्नू झूले में सो रहा था। शेखर ने देखा तो मुग्ध हो गया—ओह, कितना प्यारा है यह चुन्नू ! छोटे छोटे हाथ-पाँव, छोटा-सा मुँह, गोरा-सा रंग ! उसके दिल में सहसा प्यार का एक वेग-सा उमड़ा कि उसने उसके गाल को मसल दिया।

चुन्नू रो दिया तो शशि की आँख खुल गई, झिड़ककर बोली, "अरे, क्या कर रहा है तू ? एक सैकंड भी उसे चैन नहीं लेने देता, बदमाश !"

अपराधी-सा शेखर बोला, "मम्मी, मैं तो उसे प्यार कर रहा था।"

"प्यार कर रहा था !" शशि खीझकर बोली, "इतना बड़ा हो गया, पर इतनी भी अक्ल नहीं आई कि सोते बच्चे को छेड़ना नहीं चाहिए। जा, भाग यहाँ से !"

शेखर कमरे से बाहर आया तो उसकी आँखें भरी हुई थी। जिस दिन से चुन्नू पैदा हुआ था, उसे एक बार भी मम्मी ने प्यार नहीं किया था, उसे मनाया नहीं था। उसे न तो अपने हाथ से खाना खिलाया और न ही अपने साथ कभी सुलाया।

उसका जी भर आया, उसे ऐसा लगा जैसे मम्मी अब पहले वाली मम्मी नहीं रही। इसका कारण चुन्नू ही समझकर उसके मन में आग-सी लग गई।

पर जाने कौनसा आकर्षण था चुन्नू में कि उसे देखकर सारा क्रोध भूलकर वह जैसे निहाल हो जाता। उस दिन की याद शेखर को आज भी है। चुन्नू को सुलाकर शशि नहाने गई थी कि चुन्नू सहसा रो उठा। शेखर का दिल पसीज उठा। मम्मी की तरह थपकियाँ देकर उसने उसे चुप कराने की चेष्टा की, लेकिन उसका रोना बढ़ता ही गया तो भागकर वह अपने खिलौने ले आया

था। इस पर भी वह चुप नहीं हुआ तो शेखर परेशान हो गया। सहसा उसकी निगाह चुन्नू की दूध की बोतल पर पड़ी तो उसने जल्दी से उसे चुन्नू के मुँह में लगा दिया।

चुन्नू चुप होकर दूध पीने लगा तो गर्व से शेखर की छाती तन गई – हाँ, अब अम्माँ मुझे जरूर सराहेंगी।

उसी समय शशि नहाकर आ गई। शेखर ने चिल्लाकर कहा, "देखो अम्माँ, चुन्नू रो रहा था, मैंने दूध पिलाकर चुप करा दिया।"

उसके मुँह से शब्द निकल भी न पाए थे कि चुन्नू ने दूध उगल दिया। शशि ने अपना माथा ठोक लिया। चिल्लाकर बोली, "तुझे कभी अक्ल आएगी कि नहीं ? देखता नहीं, रात का दूध था। ठंडा, बासी दूध पिलाकर उसे मारना चाहता है ?"

रुआँसा होकर शेखर बोला, "अम्मा, मैंने तो समझा था. . ।"

एक चाँटा रसीद करते हुए शशि बोली, "खबरदार, जो तूने इसे हाथ भी लगाया। इतना बड़ा हो गया, पर अक्ल जरा नहीं आई।"

शेखर स्तंभित हो गया। आज पहली बार शशि ने उस पर हाथ उठाया था। *माँ की ओर देखकर उसे वे दिन याद आए जब उसकी एक मुस्कान पर* शशि बलिहारी हो जाती थी। उसने ईर्ष्या से देखा, शशि चुन्नू को थपकियाँ देते हुए कह रही थी, "सो जा, मेरे लाल, राजदुलारे, सो जा।"

शेखर के दिल में क्रोध का तूफान-सा उमड़ा, उसका जी चाहा कि चुन्नू को पकड़कर ज़मीन पर पटक दे।

लेकिन फिर भी जब कभी वह चुन्नू को प्यार करने लगता, जाने क्यों वह रोने लगता और तब शशि खीझती, कभी-कभी चाँटा भी लगा देती, "तुझे कितनी बार कहा कि इसे मत छुआ कर। इतना बड़ा हो गया, पर किसी बात का शऊर ही नहीं।"

चुन्नू के पैदा होते ही बड़प्पन का जो बोझ शेखर पर लाद दिया गया था, उसे ढोने में वह अपने को सवथा असमर्थ पाता। हाँ, चुन्नू के जन्म से एक दिन पहले तक तो शेखर को प्यार से चूमकर जाने किस बात पर शशि ने कहा था, "छोटा सा तो है मेरा लाल।"

एक असह्य वेदना उसे झकझोर गई—हाँ, रमेश का भी तो छोटा भाई है, कितना प्यार करता है रमेश उसे। और वह भी कितनी किलकारियाँ

मारता है उनकी गोद में आकर ! पर यह बदमाश चुन्नू सिर्फ पिटवाता और झिड़कियाँ दिलवाता है ! उसका दिल घृणा से भर आया।

प्यार पाने की वह तरसना यह नहीं कि शशि ने उसे कभी प्यार नहीं किया था, पर जब कभी वह उसे प्यार करने लगती, उसे खाना खिलाने लगती कि यह चुन्नू का बच्चा रोने लगता और शशि जल्दी से उठ जाती, "ले, बेटा, अब तू अपने-आप खा ले, अब तो तू बड़ा हो गया है न !"

शेखर का दिल करता कि चुन्नू को पकड़कर खूब पीटे।

एक दिन शेखर के पिता प्रकाश ने शशि को समझाने की चेष्टा की, "तुम शेखर पर इतना खीझती क्यों हो ? आखिर क्या प्रभाव पड़ेगा उस पर ?"

शशि खीझ उठी, "अरे, तो प्यार भी तो मैं ही करती हूँ। जो प्यार करेगा, वह कभी मारेगा भी। और फिर, माँ की तो डाँट भी प्यार के कारण ही होती है।'

सुनकर शेखर का मन किया कि चिल्लाकर कहे—मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा ऐसा प्यार ! पर वह चुप रहा।

प्रकाश ने उत्तर दिया, "पर फिर भी ।"

शशि ने बीच ही में उसे टोक दिया, 'देखो जी, अपने बच्चे का बुरा-भला मैं भी समझती हूँ।"

प्रकाश उठकर दूसरे कमरे की ओर चल दिया। काश, शशि पढ़ी-लिखी होती और इस प्रकार जब-तब शेखर को पीटने नहीं लगती, उस पर खीझने नहीं लगती और प्यार का सही अनुमान कर सकती !

जैसे-जैसे चुन्नू बड़ा होता गया, उसकी शरारतें बढ़ती गईं। शेखर महसूस करता, केवल अम्माँ का ही नहीं, पापा का भी प्यार चुन्नू पर ही केन्द्रित हो गया है। वह दिन शेखर को आज भी याद है—प्रकाश दफ्तर से आया तो मचलकर उनकी गोद में चढ़ने का प्रयास करते हुए शेखर बोला, "पापा, हमें टॉफी ला दो।"

प्रकाश दो क़दम पीछे हटकर बोला, "अरे, ऊपर क्यों चढ़ा आता है ? देखता नहीं, कपड़े खराब हो जाएँगे।"

इतने में चुन्नू ने तुतलाकर कहा, 'पापा !" और पापा प्यार से विभोर होकर उसे गोद में लेकर चूमने लगे। अपमानित, वेदनासिक्त शेखर देखता रह

गया। उसके दिल मे ज्वार-सा उठा—यह चुन्नू का बच्चा मर क्यो नही जाता ?

ज्यो-ज्यो चुन्नू बडा होता गया, शेखर के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता बढती गई। अपना खिलौना तोडकर और फिर रोकर शेखर का खिलौना लेने की कला वह खूब सीख गया था।

शेखर विरोध करता तो शशि कहती, "दे दे बेटा, तेरा छोटा भाई जो है !"

शेखर नही देता तो चुन्नू पूरे ज़ोर से राग अलापना शुरू कर देता। शशि शेखर को पुचकारती, लेकिन वह नही मानता तो उससे खिलौना छीनकर वह कहती, "अरे, दे भी दे ! छोटा भाई तो जैसे तेरा दुश्मन है !"

एक दिन खिलौना लेते ही चुन्नू चुप हो गया तो शेखर स्वय को सँभाल नही सका। कसकर चुन्नू के एक चाँटा मारकर सुनी सुनाई गाली देते हुए उसने कहा, "ले साले, ले !"

शशि क्रोध से पागल हो गई, "हूँ, तो अब इतनी हिम्मत हो गई तेरी ! खबरदार जो दुबारा हाथ उठाया ! कितना ही चाहती हूँ कि कुछ न कहूँ, पर मार खाए बिना तो जैसे इसे खाना नहीं पचता।"

इसके बाद शेखर बदला लेने से चूकता नहीं था। चुन्नू को अकेले पा चिकोटी काटकर भाग जाना या चपत मार देना उसकी जैसे दिनचर्या बन गई थी।

हर गुज़रते दिन के साथ उसके दिल में चुन्नू के प्रति घृणा और अम्मी पापा के विरुद्ध विद्रोह की भावना बढ़ती गई, जो आज तूफानी वेग के साथ फूट पडी।

दीवार का सहारा लेकर शेखर ने मुट्ठियाँ भीच लीं—नहीं, वह अब किसी की परवा नही करेगा। ज्यादा-से-ज्यादा पापा मार ही तो लेंगे, यह कौन नई बात है ? रोज अम्मी पीटती ही हैं, आज पापा मार लें। सोचते-सोचते जाने कब उसे नीद आ गई। जब उसकी आँख खुली तो देखा, सुबह हो गई थी और वह अम्मी की चारपाई पर सोया हुआ था। कल की बात सोचते ही वह विद्रोह से भर गया। नहीं, अब वह अम्मी के साथ कभी नहीं सोएगा, कभी बात तक नही करेगा।

वह उठने लगा तो उसे बाँहों मे समेटकर शशि ने दुलार से कहा,

"शेखर, मेरे बेटे !"

इतने दिन बाद इतना प्यार पाकर शेखर रोमांचित हो गया, पर दूसरे ही क्षण उसे अपना प्रण याद आया। झटके से अपने को अलग करके वह तेजी से बाहर चल दिया। शशि पुकारती ही रह गई।

सारे दिन भटकने के बाद शाम को वह घर वापस आया तो उसने देखा, उसकी अम्माँ उसका नाम ले-लेकर बड़बड़ा रही थी और पड़ोस के डॉक्टर साहब उसकी नब्ज देख रहे थे। शेखर को देखते ही प्रकाश उसे गोद में उठाकर शशि से बोला, "देखो, शेखर आ गया है।"

शशि ने आँखें खोलीं और फिर पागलों की तरह उसने शेखर को बाँहों में भींच लिया, 'मेरे बच्चे ! मेरे लाल !"

किन्तु शशि की दशा बिगड़ती गई। दिल की बीमारी की उसे पुरानी शिकायत थी, उसी ने अब भयानक रूप ले लिया था।

एक दिन सुबह शेखर सोया हुआ था कि उसे जगाकर गोद में लेकर प्रकाश ने रुँधे गले से कहा, "शेखर बेटा, तुझे तेरी अम्माँ बुला रही है।"

शेखर को लेकर प्रकाश शशि के पास गया। शशि ने उसे अपनी छाती से चिपटाकर रोते हुए कहा, "मेरे लाल, अपने छोटे भाई का खयाल रखना। अब मैं कभी लौटकर नहीं आऊँगी।"

शेखर घबरा गया, रोकर बोला, "अम्माँ, तुम्हें क्या हो गया है, अम्माँ !"

कुछ देर माँ की छाती पर सिर रखकर वह रोता रहा कि उसे उससे अलग करके पापा ने रोकर कहा, "तेरी अम्माँ चली गई, बेटा !"

मृत्यु का अर्थ शेखर समझता था, चीख मारकर बोला, "अम्माँ !"

तीन दिन बीत गए। शेखर को अम्माँ के बिना एक अजीब सा सूनापन और अभाव महसूस होता। चुन्नू के लिए प्रकाश ने एक आया रख दी, पर वह हमेशा अम्माँ के लिए रोता रहता।

चुन्नू को रोते देखकर शेखर को उसके प्रति घृणा की परितृप्ति-सी मिलती—रोने दो साले को, हमेशा अम्माँ से चिपटा रहता था। ज्यों-ज्यों उसे अम्माँ की याद आती, छोटे भाई के प्रति उसकी घृणा बढ़ती जाती।

प्रकाश दफ्तर जाने लगा, तो रुँधे गले से शेखर से बोला, "अपने भाई का खयाल रखना। रोने नहीं देना उसे, अच्छा ?"

पापा दफ्तर चले गए तो शेखर ने मुँह बिचका लिया—उँह, हमेशा पिटवाता रहता था और अब खयाल रखो इसका !

उसी समय चुन्नू रो दिया तो शेखर का मुँह और भी बिचक गया—रोने दो साले को।

चुन्नू चुप नहीं हुआ तो उसने जैसे धमकी देते हुए कहा, "अबे, चुप भी कर !"

वह तब भी चुप नहीं हुआ तो उसे कसकर एक चांटा रसीद करते हुए वह बोला, "चुप होगा कि नहीं ?"

चुन्नू और भी ज़ोर से रोने लगा तो उसने उसे धड़ाधड़ पीटना शुरू कर दिया। आज वह अम्मां से पिटवाने का बदला अच्छी तरह लेगा। मारते-मारते जब वह बेदम हो गया तो उसने देखा, चुन्नू के चेहरे पर उसकी उँगलियों की छाप पड़ गई थी। औंधे मुँह पड़ा हिचकियाँ लेता हुआ वह कह रहा था, "भैया, अब नहीं रोऊँगा। अम्मां !"

शेखर सहसा चौंक पड़ा—हाँ, आज अम्मां नहीं थी जो चुन्नू को छुड़ाकर बदले में शेखर को पीटकर कोठरी में बंद कर देती। उसने मुँह बिचकाया—उँह, समझता था अपने को लाट साहब का बेटा ! अब देखें कौन बचाता है इसे ! डपटकर बोला, "अबे, चुप करेगा या और मारूँ ?"

चुन्नू ने सहमकर शेखर की ओर देखा। डर के मारे उसका चेहरा सफेद हो गया था और हिचकियाँ रोकने की वह भरसक चेष्टा कर रहा था।

शेखर को तरस आ गया—बेचारा ! हाँ, कुछ दिन पूर्व ही तो शेखर भी इसी प्रकार निस्सहाय और बेबस अनुभव करता था। उसके दिल में करुणा का जैसे सागर उमड़ पड़ा। चुन्नू को चुप कराने की चेष्टा में असफल हो उसने सामने ज़मीन पर बैठी जँभाई लेती हुई आया से अधिकारपूर्ण स्वर में कहा, "आया, देखती नहीं, चुन्नू रो रहा है ! चुप क्यों नहीं कराती इसे ?"

आया चकित रह गई, "अरे, अभी खुद ही तो पीट रहा था !"

"बहुत बोल मत," उसने अम्मां की तरह डाँटकर कहा, "दूध पिला इसे।"

दूसरे दिन सुबह शेखर अपने खिलौनों से खेल रहा था कि उनके लिए चुन्नू मचलने लगा। शेखर को क्रोध आ गया। उसे धकेलते हुए बोला, "अबे जा, बड़ा आया लाट साहब का बेटा !"

चुन्नू रोने लगा तो प्रकाश ने पुचकारकर शेखर से कहा, "दे दे, बेटा !"

"नहीं, मैं नहीं दूंगा," शेखर ने अक्खड़ स्वर में कहा।

बहुत कहने पर भी शेखर ने जब खिलौने नहीं दिये तो हारकर चुन्नू को पुचकारते हुए पापा ने कहा, "अरे, राजा बेटा होकर रोता है ? हम तेरे लिए शाम को बहुत से खिलौने ला देंगे।"

शेखर को आश्चर्य हुआ—अम्मां की तरह पापा ने उससे खिलौने जबरदस्ती छीनकर चुन्नू को क्यों नहीं दिये ?

दफ्तर से पापा आये तो चुन्नू भागकर उनकी गोद में चढ़ गया। देखकर शेखर को ईर्ष्या हुई—बड़ा आया कहीं का लाडला ! वह मुड़कर जाने ही वाला था कि प्रकाश ने पुकारा, "शेखर, देख तो, हम तेरे लिए क्या लाए हैं !"

खुशी से शेखर उछल पड़ा, "अरे पापा, इतनी सारी टॉफियां !"

पापा ने उसे गोद में लेकर कहा, "थोड़ी सी अपने छोटे भाई को भी दे दे, बेटा !"

शेखर को सहसा याद आया—अम्मां तो हमेशा पहले चुन्नू को देने के बाद शेखर को कोई चीज देती थीं।

उसने महसूस किया कि पहले का प्रतिद्वंद्वी चुन्नू अब सर्वथा निस्सहाय हो गया था, उसकी दया पर आश्रित ! पिघलकर बोला, "पापा, चुन्नू अम्मां के लिए हमेशा रोता रहता है।" वह फूट-फूटकर रो पड़ा, "अम्मां क्यों चली गई, पापा ?"

इसके दो दिन बाद की बात है, शेखर खाना खा रहा था कि चुन्नू बाहर से रोता हुआ आया। शेखर ने बुजुर्गों की तरह पुचकारकर पूछा, "क्यों, क्या हुआ, चुन्नू ?"

"रतन ने मारा है," चुन्नू ने सिसकियां लेते हुए कहा।

शेखर की आंखों में खून उतर आया। रतन के बच्चे की इतनी हिम्मत कि उसके छोटे भाई पर हाथ उठाए ! गरजकर बोला, "कहां है रतन ?"

"अपने घर भाग गया है।"

"अच्छा, कोई बात नहीं, बाहर निकलने दे उसे, मार-मारकर भुरकस न बना दिया तो कहना।" सहसा उसे आया का खयाल आया तो वह क्रोध से चीखा, "आया ! ओ आया !"

आया आई तो वह उबल पडा, "कहाँ गई थी तू ? देखती नहीं चुन्नू रो रहा है !"

चुन्नू के शरीर का स्पर्श करते ही आया चौंक पड़ी, "अरे दैया, इसे तो बुखार है !"

शेखर पर जैसे बिजली गिरी, "क्या ?"

आया भागकर डॉक्टर को बुला लाई । सारे दिन शेखर छोटे भाई की चारपाई पर बैठा उसे अपने खिलौनों के ढेर से बहलाने की चेष्टा करता रहा । चुन्नू अम्मां के लिए रोता रहा तो शेखर का दिल जैसे डूबने लगा, रुँधे गले से उसे चुप कराने की चेष्टा करते हुए वह बोला, "अम्मां तेरे लिए मिठाई लेने गई है, चुन्नू भैया, चुप हो जा ।"

चुनू तब भी चुप नहीं हुआ तो वह अपने को रोक नहीं सका, सिसकियाँ लेते हुए अम्मां के फोटो की ओर देखते हुए वह बोला, "लौट आओ, अम्मां, अब मैं चुन्नू को कभी नहीं मारूँगा, अपने सारे खिलौने उसे दे दूँगा ।"

शाम को प्रकाश दफ्तर से आया तो देखा, आँगन में शेखर फूट-फूटकर रो रहा था । वह सकपका गया, "क्यों, क्या हुआ, शेखर ?"

पापा को देखकर शेखर की रुलाई और भी बढ़ गई । आखिर बड़ी कोशिश करके वह बोला, "पापा, चुन्नू को बुखार है !"

प्रकाश हड़बड़ाकर अन्दर जाने लगा तो उससे लिपटकर वह बोला, "आया चुनू का जरा भी ख्याल नहीं रखती । पापा, तुम नई अम्मां ले आओ, नहीं तो चुनू भी मर जायगा !"

१३

सूर्य का जन्म

उगते हुए सूर्य की किरणों ने धरती का बाह्य अन्धकार निगल लिया, तो विधाता ने घुटनों पर रखा अपना सिर ऊपर उठाया। रात-भर सिसक-सिसककर रोने के बाद उनकी आँखें अस्त होते हुए सूर्य की तरह लाल हो रही थीं। चेहरे पर एक हारे हुए जुआरी का-सा पराजय-भाव और अन्तःकरण में गहन अन्धकार का उमड़ता हुआ, हिलोरें लेता हुआ, बन्धन-हीन सागर! सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एवं नियन्ता कहे जाने वाले विधाता का अपनी शक्ति एवं क्षमता पर से विश्वास उठता जा रहा था। सृष्टि की रचना उसने आनन्द को मूर्त रूप देने के लिए की थी, किन्तु उसके कान रामायण, महाभारत एवं ट्राय के युद्धों की प्रलयकारी गड़गड़ाहट तथा उसकी आँखें उन विनाशक शस्त्रास्त्रों के भीषण, संहारी प्रदर्शनों को भूली नहीं थीं, जिन्होंने उसकी सत्ता को चुनौती देते हुए सृष्टि को नष्ट करने का मानो बीड़ा उठा लिया था।

किन्तु उस कटुता रूपी विष को विधाता ने प्राथमिक बाधाओं के रूप में लेकर हँसते-हँसते पी लिया था। उन आसुरी वृत्तियों पर जब उसने ठहाका लगाया था तब विनाश के वे घने, काले बादल छट गए थे और आकाश एक बार फिर साफ हो गया था। बाधाएँ इसके बाद भी आईं, बादल फिर-फिर छाए, किन्तु निराशा का कुहरा आशा को निगल नहीं सका कभी। किन्तु आज—और विधाता ने अपना चेहरा ढक लिया—हाँ, आज वह इस कटु सत्य से इन्कार नहीं कर सकता कि अपनी ही सन्तान के सम्मुख, उसकी शक्ति और हठ-के-सम्मुख वह हार गया है। तथाकथित सभ्यता एवं उन्नति की इस बीसवीं शती में इन्सान की भूख दो महायुद्धों के प्रलयकारी विनाश से मिटने की बजाय और भी तेज हो गई है। और अब तृतीय महायुद्ध के काले बादल सारे संसार को अपने घेरे में बाँधते चले जा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप वेदना एवं विवशता का एक ऐसा सागर-सा उमड़ा कि विधाता का अन्तःकरण चीत्कार उठा। हाँ, आखिर क्या करे वह? बीसवीं शती के इस वैज्ञानिक युग में निरन्तर स्पन्दन हीन होते जा रहे इन्सान के हृदय में वह नई उमंगें, नई

भावनाओं को किस प्रकार जागृत करे ? एक-दूसरे के खून की प्यास आखिर इन्सान में कब बुझेगी ?

विधाता को ईसा, सुकरात, लिंकन और गांधी की याद आई तो वह फूट-फूटकर रो पड़ा—हाँ, उसका अन्तिम अस्त्र भी विफल गया था, आशा का दीप बुझ गया था, प्रकाश की अन्तिम किरण भी विलीन हो गई थी।

एक ज़ोर का धड़ाका हुआ तो विधाता ने कांपती धरती को थाम लिया। दूर बिकनी द्वीप में अमरीका ने उद्जन बम का परीक्षण किया था। चारों ओर सर्वनाश की लपटों के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई न दिया। घृणा, द्वेष एवं तेज़ी से बढ़ते चले आ रहे विश्व-युद्ध के भारी पगों की आहट के अतिरिक्त कुछ सुनाई न दिया। उसका जी किया कि वह धरती पर अपना सिर पटक दे।

जाने कितनी देर वह इसी प्रकार हताश बैठा रहा कि एक मर्मभेदी चीख ने उसके अन्तःकरण को कंपा डाला। आँखें फाड़े वह कुछ देखने, समझने की चेष्टा कर रहा था कि उसके कानों में शहनाई के मधुर स्वर गूँज उठे। विधाता का मस्तिष्क चकरा गया—पुनीत, उत्फुल्ल, दो हृदयों के इस मधुर-मिलन की बेला में इस घनीभूत वेदना के स्वर का अर्थ ? अंधकार के घने पर्दे को चीरकर विधाता ने देखा, दुलहन का सुंदर मुख सिसक-सिसककर रोने के परिणामस्वरूप कुम्हला गया था, बिम्बाफल से होंठों पर पपड़ी जम गई थी और नीलकमल-सी आँखों में एक अजीब-सा सूनापन, सहमापन था, मानो आज उसके रंगीन अरमानों एवं सुखद सपनों की दुनियाँ लुट रही हो।

"उठ, मेरी रानी बिटिया !" उसकी माँ ने आकर प्यार से कहा तो माँ को ज़ोर से धकेलकर तीखे स्वर में वह बोली, "तुम मुझे मारना ही चाहते हो तो मेरा गला क्यों नहीं घोट देतीं ?"

'सुन तो बेटी ...।"

"चुप रहो," उसे जैसे उन्माद हो गया हो,"मैं किसी की बेटी नहीं हूँ। मेरा किसी से कोई नाता नहीं है। तुम सब मेरे दुश्मन हो, सब ...।"

और स्तम्भित विधाता ने सुना, बेटी से लिपटकर फूट फूटकर रोती हुई माँ कह रही थी, "तू ही बता, मेरी बच्ची, मैं क्या करूँ ? तू भूल क्यों नहीं जाती राकेश को ? सोच ज़रा, घृणा, भेदभाव और परम्परा की दीवारों की इस दुनियाँ में प्रेम का संगम क्या सम्भव है ?"

विधाता के दिल में असह्य वेदना की एक लहर-सी उठी, मानो कोई

उसके अन्त करण को बींधता, चीरता चला जा रहा हो।

शहनाई के स्वर अब भी गूँज रहे थे, चहल-पहल का दौर बढता जा रहा था और मुक्त हास्य के स्वर मानो दुलहन का उपहास कर रहे थे।

"तुमने पैदा होते ही मेरा गला क्यों नही घोट दिया, माँ ?" माँ के गले से लिपटकर दुलहन सिसकते हुए बोली। अवाक्, वेदनासिक्त विधाता यह सब देखता रहा कि एक स्वर और सुनाई दिया—गहन उदासी और मर्मान्तक पीडा से परिपूर्ण स्वर, "उठो, कान्ति, यह क्या पागलपन है ?"

दुलहन ने सिर उठाया और फिर पागलो की तरह वह आगन्तुक से लिपट गई, "तुम . तुम राकेश मेरे सपनो ।"

उसे अपने से अलग करते हुए वह बोला, "अपने को सम्हालो, कान्ति ! सपनो के मोह मे क्यो पडती हो, भला स्वप्न भी कभी सत्य हुए है ?"

और विधाता को लगा मानो ये शब्द स्वय उस पर व्यग्य करने के लिए कहे गए हो। हाँ, सपनो के मादक ससार का निर्माण विधाता ने इसी-लिए तो किया था कि दुख-दर्द से हारा हुआ, जीवन के थपेडो से थका हुआ, टूटा हुआ इसान उस रगीन कल्पना-लोक के रूप मे जिन्दगी का आसरा ढूँढ सके, धरती के कटु यथार्थ का सामना कर सके ! पर आज क्या सुन रहा है वह, कि वह रगीन स्वप्न-लोक ही भोले, मासूम, निष्कपट हृदयो के लिए क्रूर नियति का व्यग्य बन गया ?

"विश्वास क्यो हारती हो, रानो ? हम फिर मिलेंगे, इस जन्म मे नही तो अगले मे सही ! दिल मजबूत करो कान्ति, प्यार को बदनाम क्यो करती हो ?" उसे अपने से अलग करते हुए वह जाने लगा तो कान्ति की हिचकियाँ बँध गई, "न जाओ, राकेश, न जाओ कम से-कम तुम तो मेरा साथ न छोडो !"

आँखो मे उमडते सावन को किसी प्रकार पीकर वह बोला, "चुप रहना, कान्ति, याद रखो हम फिर मिलेंगे, जरूर मिलेंगे !"

सर्वश विधाता ने देखा, भविष्य मे उन प्रेम पुजारियों के भाग्य मे दो ही वस्तुएँ बदी थी—मरघट का-सा सूनापन और टूटी हुई कब्र के समान टूटे हुए अरमान !

करुणा सिक्त सहानुभूति का एक स्रोत विधाता के मन मे उमडा तो उसने प्रेम-पुजारी के हारे हुए मन और थके हुए पगो का सहारा देने के लिए उसके कधे पर अपना वरद-हस्त रख दिया। चौंककर युवक ने पूछा,

"कौन ?"

"मैं हूँ, मेरे बच्चे, मैं—तुम सबका पिता, इस सृष्टि का निर्माता !" विधाता ने स्वर में स्नेह और ममता भरकर कहा।

"तुम तुम ," युवक दो कदम पीछे हटा और फिर मानो ज्वालामुखी फूटा, "चले जाओ मैं कहता हूँ चले जाओ तुम्हें साक्षी बनाकर हमने प्यार के जो वायदे किये थे, शपथें खाई थी, उनका मजाक उड़ाने आये हो क्या ?"

"सुन तो मेरे बच्चे !"

"धोखा मत दो हमें, तुम हमारे पिता नहीं हो, पूँजीपतियों, हृदय-हीनों और अत्याचारियों के पिता हो। पिता अगर हो भी तुम हमारे, तो सौतेले पिता हो, हम तुम्हारी सौतेली सन्तान हैं तुमने सुना नहीं, मैं कहता हूँ, चले जाओ !"

पर विधाता की तो जैसे किसी ने सारी शक्ति छीन ली हो, उसके पाँवों में मानो बेड़ियाँ पड़ गई हों।

"तुम नहीं जाओगे तो मुझे ही जाना पड़ेगा," कहकर तेजी से युवक एक ओर चल दिया तो विधाता ने बैठते दिल को पकड़ लिया। सूनी आँखों से वह जाते हुए युवक की ओर देखता रहा—उफ, कैसी विडम्बना है कि रेगिस्तान में शुष्क क्षणों में जीवन में नई आशा, नई उमंग, नव-रस का संचार करने के लिए प्रेम का जो बीज मैंने बोया था, उसी ने इंसान की तमन्नाओं का खून करके उसे जीवित लाश बना दिया !

और विधाता परेशान हो गया। आखिर कौनसी शक्ति है वह कि जिसके सम्मुख वह सर्वथा असहाय बन गया है, अपने कायक्रम एवं आशा के महलों को टूटते देखकर भी वह हसरत-भरी निगाहों से एक अजीब सी प्यास लेकर आहें भरने के सिवाय कुछ नहीं कर सकता !

सहसा उसे अपने कलाकार-पुत्र की याद आई, तो उसके हृदय में मानो नई रोशनी, नई आशा का स्रोत फूटा। भटकती दुनियाँ को राह दिखाने का कार्य उसने अपने इस पुत्र को सौंपा था। उस कलाकार पुत्र के घर में वह प्रवेश करने ही वाला था कि एक निर्जीव स्वर उसे सुनाई दिया, "मैं कहती हूँ तुम अब लिखना बन्द करोगे या, अपने लिए नहीं तो कम-से-कम मेरे लिए, अपने बच्चों के लिए तो अपने स्वास्थ्य का ख्याल करो।"

"तुम झूठी आशाओं का सहारा क्यों ले रही हो, शील ? मैं अब बचूँगा नहीं, इसलिए कम-से-कम मुझे आखिरी बार तो नये इन्सान की विजय के गीत गा लेने दो, कि परम्परा की ये दीवारें टूट जायें और इन्सान स्वच्छन्द पक्षी के समान '', और खाँसी के एक दौर ने उससे शेष शब्द छीन लिए।

कलाकार की पत्नी का रुआँसा स्वर सुनाई दिया, "मैं कहती थी न तुम ।"

कलाकार का उखड़ता स्वर फिर सुनाई दिया, "आज मैं बहुत खुश हूँ, शील, बेहद खुश हूँ कि अन्तिम क्षणों में भी मेरे हाथों ने इन्सानियत का झण्डा थामे रखा। मैं जा रहा हूँ, रानी, पर मेरे गीत मरेंगे नहीं, मेरी कहानियाँ नये इन्सान की चिरंतन विजय की कहानियाँ बन जायेंगी। विदा शील, विदा प्रिय ।"

तेजी से विधाता अन्दर प्रविष्ट हुआ, किन्तु पक्षी पिंजरे से उड़ चुका था। उसने उसे पुनर्जीवित करने के लिए अपना वरद हस्त उस पर रखना चाहा कि सहसा वह रुक गया—उसके इस कलाकार पुत्र की यह असामयिक मृत्यु विधाता की हार और उसकी अपनी ही भटकी हुई सन्तान की विजय की प्रतीक नहीं थी क्या ? अब तक वह कुछ नहीं कर सका अगर, तो भविष्य में ही ऐसी कौनसी सम्भावना है कि ..। उसकी आँखों के सामने कलाकार का अतीत नाच उठा—भूख, बेकारी, अभाव, शोषण, रोग और और विधाता सहसा काँप उठा—तो क्या अपनी ही सन्तान की शक्ति का सामना करने की शक्ति, क्षमता नहीं रही उसमें ? सर्वशक्तिमान कहे जाने वाले विधाता ने स्वयं को इतना असहाय, इतना विवश कभी अनुभव नहीं किया था।

"बचाओ, बचाओ . ," एक आर्त नारी-स्वर हवा में गूँजा, तो विधाता ने देखा कि एक अबला के शरीर को एक नर पशु की बाँहों का घेरा बाँधता चला जा रहा था। "छोड़, छोड़ मुझे बदमाश, छोड़ ! हे ईश्वर ," छटपटाते हुए वह बोली तो उसने जोर का एक ठहाका लगाया, "ईश्वर . खूब ! उस मिट्टी के भगवान को क्यों बुलाती है, मेरी जान ? वह तो कब का मर चुका, आज इन्सान का ईश्वर यह है, यह, देख, जी भरकर देख।" और उन्मत्त की तरह उसने पास पड़ी पोटली उलट दी तो चाँदी के असंख्य गोल सिक्कों की खनखनाहट से कमरा गूँज उठा।

क्रोध के मारे विधाता की मुट्ठियाँ भिंच गईं। उस नर-पशु का वध

करने के लिए जैसे ही वह आगे बढ़ा, वह चकित रह गया। उस नर-पशु की सहायता के लिए लाखों, करोड़ो व्यक्तियों का समूह बढ़ता चला आ रहा था, निरंतर उमड़ती बाढ़ के समान।

"चले जाओ, वापस चले जाओ, वरना मैं सबका नाश कर दूँगा," विधाता ने चिल्लाकर कहा, किन्तु निरंतर बढ़ रहे इस कोलाहल में कोई उसकी आवाज सुने तब न ! क्रोध से पागल होकर विधाता ने सुदर्शन-चक्र उठाया तो ब्रह्मांड घूमने लगा, तीनों लोकों मे त्राहि-त्राहि मच गई। एक झटका-सा विधाता को लगा तो उसका बढ़ा हुआ हाथ नीचे झुक गया। एक हूक-सी उसके मन मे उठी और उसने काँपती धरती को थाम लिया। उफ, अपनी ही संतान का, स्वनिर्मित सृष्टि का अपने ही हाथों नाश कैसे कर दे वह ? आखिर उसका पिता का दिल है ! असहाय-सा फूट-फूटकर वह रो पड़ा— तो तो क्या वह अत्याचार का यह खुला प्रदर्शन एक मूक दर्शक के रूप में देखता जाय ?

जाने कितनी देर वह इसी प्रकार रोता रहा कि प्रलय के सागर के समान बढ़ते चले आ रहे करोड़ों इन्सानों के स्वरों ने वातावरण में जैसे नव स्फूर्ति भर दी। "पूँजीवाद मुर्दाबाद, दुनियाँ के मजदूर भाई-भाई, अत्याचार का नाश होकर रहेगा ।"

विधाता को जैसे एक नई आशा, नई रोशनी देखने को मिली हो। वह उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा।

किन्तु सहसा उसने देखा, चारों ओर अंधकार और गड़गड़ाहट का एक और सागर सा उमड़ा कि जिसमे वह नई रोशनी डूब गई, वह आवाज विलीन हो गई। अन्धकार का पर्दा कुछ हटा तो उसने देखा, वे आवाजें कराहों के रूप मे परिवर्तित हो गई थीं, जोश से उमड़ते वे दिल राख हो गए थे, नई इन्सानियत के सदेशवाहकों एवं पैगम्बरों के शरीर सड़ी गली लाश बन गए थे और नर-राक्षस अपने शस्त्रास्त्रों, अपनी शक्ति पर मान करते हुए विजय की मुस्कान मुस्करा रहे थे।

एक बार फिर विधाता का हाथ सुदर्शन-चक्र पर गया, किन्तु विस्फारित नेत्रों से वह देखता रह गया—उसकी शक्ति से होड़ लेने के लिए बीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण वैज्ञानिक-वर्ग आगे बढ़ आया था।

"चले जाओ, वापस चले जाओ, मूर्खो," एक बार वह फिर चिल्लाया,

"जानते हो किससे सामना करने चले हो ?"

उसकी चेतावनी का स्वागत एक उपेक्षापूर्ण ठहाके ने किया। फिर विद्रोहियों के नेता ने आगे बढ़कर कहा, "लगता है, तुम इस समय होश मे नही हो।"

"चुप रहो !"

"मुझे तुम पर क्रोध नहीं, तरस आता है," नेता ने जैसे विधाता को समझाते हुए कहा। "जाओ, किसी से टक्कर लेने से पहले अपनी सामर्थ्य देख लिया करते हैं, समझे ?"

"तुम चुप होओगे या ?"

"हूँ, तो तुम इस तरह बाज़ नहीं आओगे," नेता ने दाँत पीसकर कहा, "मैं तुम्हें पाँच मिनट का समय दे सकता हूँ, वरना ।"

विधाता के सामने प्रथम और द्वितीय महायुद्ध, हिरोशिमा और नागासाकी, अगणित शस्त्रास्त्रों के अम्बार, उद्जन बम के परीक्षण, इसान मे इसान के खून की बढ रही प्यास के चित्र नाच उठे तो वह सहसा काँप उठा। इस सृष्टि का विनाश वह अपनी ही आँखों से होते देख सकेगा क्या ? और, फिर यह उसकी सबसे बडी हार नहीं होगी क्या ?

आज पहली बार विधाता ने महसूस किया कि एक मूक, असहाय, एकाकी दर्शक के अतिरिक्त ससार के इस विशाल रगमच पर उसकी और कोई भूमिका नही रह गई थी।

"एक मिनट और शेष है, सोच लो," लाखों आवाज़ों ने अतिम चेतावनी दी।

अपनी दयनीय स्थिति और अपनी भटकी, अन्धी सतान की अबोधता, मूर्खता पर विधाता की आँख से दो मोती और टपके। और फिर एक हारे हुए खिलाडी के समान उसके पाँव वापस मुड गए, तो लाखों विजयी आवाज़ो ने धरती आकाश एक कर दिए।

एक ऊँचे टीले पर प्राणहीन-सा विधाता लेट गया—एक लम्बी किन्तु असफल यात्रा के उपरात किसी थके, टूटे, हताश पथिक के समान।

एक एक पल जैसे पहाड बन गया था कि सहसा कल-कल करते झरने के समान, सगीत की सम्पूर्ण मादकता से परिपूर्ण एक हँसी ने विधाता के दिल के सोए तारों को झकृत कर दिया। विधाता उठकर बैठ गया—तो रेगिस्तान-

से शुष्क जीवन मे भी बसन्त का पराग, उल्लास छिपा है क्या ?

उत्सुकतावश वह उठ खड़ा हुआ, उसके रोम-रोम मे नव-स्फूर्ति दौड गई हो जैसे ।

"ओह, तुम कितने अच्छे हो, डियर ! पर. पर हमे किसी ने इधर आते देखा तो नही न ?" एक काँपता नारी-स्वर सुनाई दिया ।

विधाता ने जो देखा, तो लज्जावश उसकी आँखें मुँद गई ।

"तुम डरती क्यो हो, डार्लिंग ? मेरी ओर देखो, मैने समाज के नैतिक बन्धनो की परवा की है कभी ?" युवक ने चुनौती देते हुए कहा ।

उसकी घेरती बाँहो मे अपने शरीर को ढीला छोडती हुई युवती बोली, "नही नही, मैं डरती नही हूँ, पर सोचो ज़रा, अगर मेरे पति को पता चल गया ?"

युवक हँसा, "वह खुद इस समय नशे मे चूर किसी के साथ । उसे यह सब देखने की फ़ुरसत कहाँ है ?"

युवती का स्वर फिर सुनाई दिया, "ओ डार्लिंग !"

विधाता ने अपने कानो मे उँगली डाल ली। उफ़, वह बीसवी सदी का पुरुष .और यह आधुनिक नारी जो सदियो की गुलामी के पश्चात् मिली स्वतन्त्रता और नारीत्व के परित्याग को पर्यायवाची मान बैठी है ! विधाता की आँखो के सामने वासना के नग्न-प्रदर्शन, क्लब, कामुक नृत्यो के निर्लज्ज दृश्य घूम गए । वासना के बढते दौर को प्रगतिशीलता का प्रतीक मानने वालों के निर्लज्ज ठहाके उसके कानो से टकराए तो उसे ऐसा लगा, जैसे सारी दुनियाँ उसकी असफलता पर ठहाके लगा रही हो, उसका उपहास कर रही हो । उसे लगा, जैसे खडहर के समान टूटे दिल, दम तोडती भावनाओ, मरती हसरतों और विवशता के अगम, अथाह, अनन्त सागर के अतिरिक्त कुछ नही रह गया है वह !

तीन पहर रात्रि बीत चुकी थी। निराशा के घने, काले बादलो ने आशा-रूपी-आलोक की अन्तिम किरण को भी निगल लिया था। और विधाता—उसके शरीर मे जैसे गति न रही हो, विचार-शक्ति समाप्त हो गई हो, निराशा का कुहरा उस पर छाता चला जा रहा हो । पर रह-रहकर एक प्रश्न कौंधता—आखिर क्या करे वह, जिन्दगी को मौत का प्रतिबिम्ब बनने से कैसे रोके वह ?

सहसा चकित होकर उसने देखा—दूर, अन्तरिक्ष मे अन्धकार के पर्दे को चीरकर एक नया सूर्य उग आया था। उसने महसूस किया, मद, शीतल समीर के प्यार-भरे झोके निस्तब्ध, निर्जीव पडे प्राणियो मे नव-प्राण फूँक रहे थे। अन्धकार के काले बादल छँट गए थे और एक दिव्य आलोक से धरती जगमगा रही थी।

पर विधाता इस बार नहीं उठा—इतनी निराशा, कटुता पाने के पश्चात् उसमे अपने दिल को तसल्ली देने का साहस नही रह गया था। पर उस नये सूर्य के बढते प्रकाश मे कुछ क्षण पश्चात् विधाता ने देखा, वे नर-राक्षस मुरझाये पत्तो की तरह काँप रहे थे। उत्सुकतावश विधाता उठकर बैठ गया। दूर नजर दौडाई तो देखा, सदियो के शोषण के परिणामस्वरूप हारे-टूटे इन्सानो मे जाने किसने एक नई, अद्भुत शक्ति का सचार कर दिया था कि पथ की बाधाओ को उपेक्षा से देखते हुए, काँटो को रौंदते हुए वे बढते चले आ रहे थे, जिन्दगी ने मौत को जैसे चुनौती दी हो। जोर का एक रेला आया तो विधाता ने देखा, नर-राक्षसो मे भगदड मच गई थी और इन्सान की विजय के गीतो से धरती-आकाश एक हो गए थे।

फिर भूकम्प-सा आया मानो धरती काँप उठी हो। एक गडगडाहट-सी हुई, मानो कानो के पर्दे फट जायँगे। एक तूफान-सा आया, मानो जिंदगी और मौत मे सग्राम छिड गया हो।

विधाता सहसा काँप गया, दिल उसका बैठ गया—तो जिन्दगी मौत के सामने फिर हार जायगी क्या ? उफ, यह सतत हार, दुर्भाग्य की लम्बी कहानी ! विधाता का अन्त करण एक बार फिर चीत्कार उठा। आखिर क्या करे वह ?

पर गडगडाहट बन्द हुई, तूफान थमा तो जो उसने देखा, उसे देखकर उसे अपनी आँखो पर विश्वास नही हुआ। वे भयकर शस्त्रास्त्र डुबोए जा रहे थे। परम्परा की वे दीवारें ढह चुकी थी, वे बुझे हुए दिल सम्पूर्ण ससार मे एक नई आशा का प्रसार कर रहे थे और हर होठ पर इन्सान की विजय के, गीत मुस्करा रहे थे। पागलो-सा विधाता उठा, उसमे जैसे किसी ने नव-प्राण फूँक दिए हो। जिन्दगी ने जैसे एक नई करवट ली हो, उसमे एक नया मोड आया हो। नव-आशा के सुरभीले झोके मानो उसे अपने आलिगन मे भर लेना चाहते हो।

उस नये सूर्य के प्रकाश का उसने अनुसरण किया तो उसके पाँव उसे धान के एक छोटे-से खेत में ले गए। उसने देखा, एक टूटी चारपाई पर एक नवजात शिशु किलकारियाँ मार रहा था। जाने कब, विधाता के अनजाने में, उस नये इन्सान का जन्म हो गया था, पर उसे देखकर प्रसन्नता के अतिरेक में उसको रोमांच हो आया। कल और आज में, अतीत और वर्तमान में अन्तर यह था कि जहाँ पहले नियति के हाथों पराजित मानव मार्ग प्रदर्शन के लिए विधाता से याचना करता था, वहाँ आज स्वयं मानव दाता बनकर विधाता को नई चेतना का वरदान दे रहा था, जिसके परिणामस्वरूप विधाता के हृदय से अन्धकार का कुहासा छँट गया था। नये इन्सान के बढ़ते हुए पगों को देखकर उसके आश्वस्त प्राणों में नए उल्लास एवं उत्साह का मानो स्रोत फूट निकला था। उसके नेत्रों में एक नई आभा आ गई थी और आनन्दातिरेक से उसके होंठ काँप रहे थे।